गीता-विमर्श

श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय की शाङ्करभाष्यानुसारी व्याख्या

डॉ. शशि तिवारी

गीता-विमर्श

गीता-विमर्श

श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय की शाङ्करभाष्यानुसारी व्याख्या

(भूमिका, मूल, अन्वय, अर्थ, व्याख्या, टिप्पणियाँ,
शाङ्करभाष्य, आङ्गलानुवाद से समन्वित)

डॉ० शशि तिवारी

विद्यानिधि
विद्यानिधि प्रकाशन
दिल्ली

प्रकाशक :

विद्यानिधि प्रकाशन

डी–10/1061 (समीप श्रीमहागौरी मन्दिर)
खजूरी खास, दिल्ली–110090

© लेखिका

संस्करण : 2017

ISBN : 978-93-80651-13-2

विद्यानिधि प्रकाशन
मूल्य : 125.00

मुद्रक :
रुचिका प्रिंटर्स

GITA-VIMARSH

by

Dr. (Mrs.) Shashi Tiwari

प्राक्कथन

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय साहित्य के उपजीव्य ग्रन्थरत्न महाभारत का सर्वाधिक प्रसिद्ध अंश है, जिसे एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का गौरव प्राप्त है। भारतीय दर्शन की आधारभूत प्रस्थानत्रयी में इसका विशेष स्थान है। समस्त वेदों का सारसर्वस्व गीता में समाहित है। यह उपनिषदों का निष्कर्ष है। गीता उन्नत विचार, योग, ज्ञान, भक्ति और कर्म के व्यावहारिक आदेशों से युक्त एक अद्वितीय ग्रन्थ है। माना जाता है कि समस्त शास्त्रों का सिरमौर तो एक ही शास्त्र है–श्रीमद्भगवद्गीता, जिसका अद्भुत गान देवकीनन्दन श्रीकृष्ण ने किया है–

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि कर्माण्येकं तस्य देवस्य सेवा।।

वस्तुतः अर्जुन के माध्यम से श्रीकृष्ण ने यह उपदेश मानवमात्र को दिया है। गीता के द्वारा न केवल अर्जुन प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति की जीवन सम्बन्धी शङ्काओं और समस्याओं का समाधान होता है।

उत्कृष्ट पद की प्राप्ति कराने वाला गीता का ज्ञानप्रधान उपदेश केवल भारतीय दार्शनिकों और विचारकों को ही प्रभावित नहीं करता है, अपितु यह पाश्चात्य दार्शनिकों को भी समान रूप से आकर्षित करता है। यही कारण है कि गीता के ज्ञान-प्रकाश से जीवन को आलोकित करने के लिए प्रबुद्ध वर्ग में इसका अध्ययन, मनन और अध्यापन चिरकाल से होता आ रहा है। जिज्ञासु चिन्तकों को भी गीता के श्लोकों का वास्तविक अर्थ कठिनता से समझ में आता है। प्रतिभाशाली आचार्यों और टीकाकारों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इस पर अनेक भाष्य और टीकाएं लिखी हैं। उपयोगिता और प्रासंगिकता के आधार पर कई विद्वानों द्वारा गीता के श्लोकों के कई नूतन अर्थ भी निकाले जाते हैं। अर्थगौरव और विशेष प्रस्तुति-विधान इस ग्रन्थ की महिमा को और अधिक बढ़ा देते हैं।

गीता का द्वितीय अध्याय इसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और पठनीय भाग है। भगवान् श्रीकृष्ण ने निष्काम कर्मयोग की विधिवत् प्रतिष्ठा यहीं की है। इस अध्याय

के अन्तर्गत आत्मतत्त्वविवेचन और स्थितप्रज्ञ के स्वरूप का प्रतिपादन भी हुआ है। इसी अध्याय के ग्यारहवें श्लोक से भगवान् ने अर्जुन को गीता का उपदेश देना प्रारम्भ किया है। बहत्तर श्लोकों के इस अध्याय का नाम है–'साङ्ख्ययोग'।

प्रस्तुत संस्करण में गीता के द्वितीय अध्याय के तात्पर्य को अद्वैत मत के प्रतिष्ठापक आचार्य शङ्कर के भाष्य के अनुसार समझने का यत्न किया गया है। मन्त्रों की व्याख्या को सुकर बनाने के उद्देश्य से उनका अन्वय, अर्थ और कतिपय महत्त्वपूर्ण शब्दों पर टिप्पणियाँ समवेत की गयी हैं। सभी श्लोकों के साथ प्रसिद्ध दार्शनिक डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के अंग्रेजी अनुवाद को भी दिया गया है।

आशा है यह लघु कृति गीता के द्वितीय अध्याय को समझने में छात्रों और जिज्ञासुओं के लिए सहायक सिद्ध होगी।

20 फरवरी, 2010

–शशि तिवारी

54, साक्षर अपार्टमेण्ट्स,
ए-3, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-63

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन 5

भूमिका 11

1. गीता का महत्व 11
2. श्रीमच्छङ्कराचार्य कृत उपोद्घात 13
3. उपोद्घात का तात्पर्यार्थ 14
4. गीता के उपदेश की पृष्ठभूमि 16
5. द्वितीय अध्याय में वर्णित ज्ञानयोग तथा कर्मयोग 18

द्वितीयोऽध्यायः

1. सञ्जय ने कहा–भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से बातचीत प्रारम्भ की। 23
2. श्रीभगवान् ने कहा–तुममें यह मन की मलिनता कहां से? 24
3. भगवान् द्वारा अर्जुन को हृदय की दुर्बलता छोड़ने की प्रेरणा। 25

4-5. अर्जुन ने कहा–पूज्यों को मार कर शान्ति कैसे मिलेगी? 26

6. मेरा मन संशयग्रस्त है। 28
7. मुझ शरणागत को मेरे कल्याण का मार्ग बताए। 29
8. मुझे शोक के निवारण का उपाय नहीं सूझता। 30
9. सञ्जय बोले–अनन्तर अर्जुन 'न लड़ूंगा' कहकर चुप हो गया। 31
10. तब विषादग्रस्त अर्जुन को भगवान् ने उत्तर दिया। 33
11. श्री भगवान् ने कहा–आत्मज्ञानी शोक नहीं करते। 38
12. सब लोक तत्त्वतः नित्य हैं। 40
13. मृत्यु शरीर की अवस्था है। 41
14. सुख-दुःख इन्द्रियों की देन हैं और अनित्य हैं। 42
15. सुख-दुःख सहने का लाभ है–अमरता। 44
16. असत् की सत्ता नहीं, सत् का अभाव नहीं। 45
17. सत् अविनाशी, अव्यय और सर्वव्यापक है। 48

18. नित्य आत्मा के ये देह नाशवान् हैं। 49
19. आत्मा क्रिया का कर्ता और कर्म नहीं है। 51
20. आत्मा निर्विकार है। 52
21. आत्मा अविनाशी और अव्यय है। 54
22. शरीर बदलना वस्त्र बदलने जैसा है। 58
23. आत्मा किसी भी क्रिया का कर्म नहीं है। 59
24. आत्मा नित्य और सर्वव्यापी है। 60
25. आत्मा अव्यक्त और अविकारी है। 62
26. यदि इसे नित्य मरने वाला समझते हो तब भी शोक अनुचित है। 63
27. जन्म और मृत्यु अपरिहार्य है। 64
28. भूतों का आदि और अन्त अव्यक्त है। 66
29. आत्मा दुर्बोध है। 67
30. शरीर में आत्मा अवध्य है। 68
31. कर्तव्य की दृष्टि से भी युद्ध छोड़ना अनुचित है। 69
32. क्षत्रियों के लिए धर्मयुद्ध स्वर्ग का द्वार है। 71
33. युद्ध छोड़ने पर अपयश के भागी बनोगे। 72
34. लोग तुम्हारी निन्दा करेंगे। 73
35. लोगों की दृष्टि में तुम छोटे हो जाओगे। 74
36. शत्रु निन्दा में न कहने योग्य बातें कहेंगे। 75
37. युद्ध में मरोगे तो स्वर्ग पाओगे और जीतोगे तो राज्य-सुख। 76
38. सुख और दुःख को बराबर समझकर युद्ध करो। 77
39. अब तक ज्ञानमार्ग बताया अब कर्मयोग सुनो। 79
40. कर्मयोग कभी व्यर्थ नहीं जाता। 80
41. तत्त्वज्ञान एकात्मक, अज्ञान अनेकात्मक। 82
42-43. कर्मवादी कर्मचक्र में फँसाने वाली बातें करते हैं। 83
44. भोग में फंसे लोगों को तत्त्वज्ञान नहीं। 85
45. सकाम कर्ममार्ग त्रिगुणपरक है, उसे छोड़ो। 86
46. तत्त्वज्ञाता को सकाम कर्म की आवश्यकता नहीं। 88
47. कर्मयोग का स्वरूप। 89
48. 'समत्व' को योग कहते हैं। 90
49. कर्मयोग की तुलना में सकाम कर्म निकृष्ट है। 91

50. कर्मयोग ही कर्मों की कुशलता है। 93
51. कर्मयोग जन्म-बन्धन से मुक्त कराता है। 94
52. मोहरहित होने पर कर्मों से विरक्ति होती है। 96
53. स्थितप्रज्ञता कर्मयोग की प्राप्ति का लक्षण है। 97
54. अर्जुन ने पूछा-स्थितप्रज्ञ कौन है उसे कैसे पहचानेंगे? 98
55. भगवान् ने कहा-जो स्वयं से संतुष्ट है वही स्थितप्रज्ञ है। 100
56. स्थितप्रज्ञ दुःख-सुख से अप्रभावित रहता है। 101
57. लोगों के प्रति उसका व्यवहार रागद्वेषरहित होता है। 103
58. स्थितप्रज्ञ अपनी इन्द्रियों को विषयों से हटा लेता है। 104
59. विषयों का राग छोड़ना आवश्यक है। 105
60. इन्द्रियाँ अत्यन्त बलवान् हैं। 107
61. जिसके वश में इन्द्रियाँ हैं वही स्थितप्रज्ञ है। 108
62-63. विषयों के चिन्तन से अन्ततः मनुष्य का नाश हो जाता है। 109
64. स्थितप्रज्ञ इन्द्रियों को वश में रखकर विषयों का ग्रहण करता है। 111
65. चित्त की निर्मलता से सब दुःखों का नाश होता है। 113
66. मन की एकाग्रता न होने से चार हानियाँ होती हैं। 114
67. इन्द्रियों के पीछे चलने वाला अनेकाग्र मन प्रज्ञा को नष्ट करता है। 115
68. इन्द्रियों का संयम आवश्यक है। 116
69. संसारी और ज्ञानी में रात-दिन का अन्तर है। 118
70. निष्काम ज्ञानी को शान्ति मिलती है सकाम को नहीं। 120
71. निष्काम कर्म करने वाला शान्ति पाता है। 121
72. उपसंहार-कर्मयोग के अभ्यास से भी ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति होती है। 123

श्लोकानुक्रमणिका 125

भूमिका

रामायण और महाभारत संस्कृत साहित्य के उपजीव्य महाकाव्य हैं, जिनसे भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति की धाराएं प्रवाहित हुई हैं। इनमें महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास द्वारा प्रणीत महाभारत विश्व साहित्य का विशालतम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की मुख्य घटना कुरुक्षेत्र में हुआ कौरव-पाण्डव युद्ध है। महाभारत का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग श्रीमद्भगवद्गीता है, जिसमें श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जीवन-दर्शन का महनीय उपदेश दिया है। श्रीभगवान् द्वारा गायी जाने के कारण इसका यह नाम पड़ा है। महाभारत में ही इस उपदेश को संक्षिप्त नाम 'गीता' दिया गया है।[1]

1. गीता का महत्व

भारतीय तत्त्व-चिन्तन की परम्परा में गीता को स्वतन्त्र रूप से एक शास्त्र अथवा दर्शनग्रन्थ का गौरव प्राप्त है। गीता-भाष्य की भूमिका में आचार्य शङ्कर ने लिखा है कि यह प्रसिद्ध गीताशास्त्र सब वेदों के अर्थ के सार के संग्रह के रूप में है-

इदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतम्।

विशाल वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत उपनिषदें ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक विशिष्ट ग्रन्थ हैं पर आध्यात्मिक और दार्शनिक तथ्यों को मौलिक रूप में प्रस्तुत करने के कारण गीता को उपनिषद् जैसा महत्त्व प्रदान किया गया है। गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में आई पुष्पिकाओं में उसे 'उपनिषद्' विशेषण दिया भी गया है। मान्यता है कि गीता उपनिषद् रूपी पुष्पों का मधु है। यह तो उपनिषद् रूपी गायों का वह अमृत-दुग्ध है जो गोपालनन्दन कृष्ण ने दुहा है। गीता के माहात्म्य पर प्राचीन आचार्यों की प्रसिद्ध सूक्ति इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है-

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीताऽमृतं महत्।।

महाभारतकार व्यास ने भीष्मपर्व में गीता को 'सर्वशास्त्रमयी' कहा है। भारतीय दार्शनिक परम्परा की आधारभूत प्रस्थानत्रयी में गीता का विशेष स्थान है। डॉ. राधाकृष्णन्

1. गीता भगवता स्वयम्। महा०, शा०प० 348.8;
सर्वशास्त्रमयी गीता। महा०, भी०प० 43.2।

के अनुसार 'भगवद्गीता अधिविद्या और नीतिशास्त्र, ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र, वास्तविकता का विज्ञान और वास्तविकता के साथ संयोग की कला, दोनों ही है। आध्यात्मिक जीवन के पुनर्नवीकरण में यह एक सबल रूपनिर्धारक तत्त्व है और इसने संसार के महान् धर्मग्रन्थों में अपना एक सुनिश्चित स्थान बना लिया है। यह कोई गुह्य ग्रन्थ नहीं है, जो विशेष रूप से दीक्षित लोगों के लिए लिखा गया हो और जिसे केवल वे ही समझ सकते हों, अपितु एक लोकप्रिय काव्य है जो उन लोगों की भी सहायता करता है जो अनेक और परिवर्तनशील वस्तुओं के क्षेत्र में भटकते फिर रहे हैं।'[1] गीता की शिक्षाओं का ज्ञान सब मानवीय महत्त्वाकांक्षाओं को सिद्ध करने वाला है। शताब्दियों से लोग इस महान् ग्रन्थ से शान्ति प्राप्त कर रहे हैं। महात्मा गांधी के व्यक्तित्व पर गीता का असीम प्रभाव रहा, उन्होंने स्वीकार किया था, 'जब निराशा मेरे सामने आ खड़ी होती है और जब बिल्कुल एकाकी मुझको प्रकाश की कोई किरण नहीं दिखाई पड़ती, तब मैं गीता की शरण लेता हूँ। जहाँ-तहाँ कोई न कोई श्लोक मुझे ऐसा दिखाई पड़ जाता है कि मैं विषम विपत्तियों में भी तुरन्त मुस्कुराने लगता हूँ।'[2] गीता में दिया गया उपदेश काल और देश की सीमाओं से परे होकर मानवमात्र के लिए परम उपयोगी है। ऐल्डअस हक्सले का कथन है कि, 'गीता शाश्वत दर्शन के कभी भी रचे गये सबसे स्पष्ट और सबसे सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण सारांशों में से एक है। इसीलिए न केवल भारतीयों के लिए अपितु सम्पूर्ण मानवजाति के लिए इसका इतना स्थायी मूल्य है।'[3]

गीता को ज्ञान का रत्नाकर माना जाता है। सभी कालों में सभी प्रकार के लोगों के लिए यह एक सार्वभौम शास्त्र है। योग, भक्ति, वेदान्त और कर्म के उपयोगी आदेशों और उन्नत विचारों से युक्त यह एक अद्वितीय ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ अन्तर्दृष्टि के सर्वोच्च शिखर का बोध कराता है। भगवान् द्वारा गीता में दिये गये समस्त उपदेश सर्वथा अनुकरणीय हैं।

गीता के उपदेश की व्यावहारिकता के कारण ही यह ग्रन्थ बुद्धिजीवियों में अत्यधिक प्रचलित और लोकप्रिय है। शायद ही विश्व की कोई ऐसी भाषा हो जिसमें इसका अनुवाद न मिलता हो। आज तक अनेकों चिन्तकों, आचार्यों, सन्तों और वैज्ञानिकों ने गीता पर सैकड़ों व्याख्या-ग्रन्थ लिखे हैं जो भारतीय चिन्तन के जीवनोपयोगी पक्ष को समझने के लिए गीता के अध्ययन की महत्ता के प्रमाण हैं। इन सबमें सर्वाधिक प्रसिद्ध, प्राचीन और प्रामाणिक भाष्य आदि शङ्कराचार्य का हैं।

---

1. भगवद्गीता, राधाकृष्णन्, दिल्ली, 1969, पृ. 13-15।
2. यंग इंडिया, मोहन दास कर्मचन्द गांधी, 1925, पृ. 1078-79।
3. दि भगवद्गीता, स्वामी प्रणवानन्द तथा क्रिस्टोफर इशर्वुड, 1945, भूमिका।

2. श्रीमच्छङ्कराचार्य कृत उपोद्‌घात

ॐ नारायणः परोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसम्भवम्।
अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनी।।

स भगवान् सृष्ट्‌वा इदं जगत् तस्य च स्थितिं चिकीर्षुः मरीच्यादीन् अग्रे सृष्ट्‌वा प्रजापतीन् प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ग्राहयामास वेदोक्तम्। ततः अन्यान् च सनकसनन्दनादीन् उत्पाद्य निवृत्तिलक्षणं धर्मं ज्ञानवैराग्यलक्षणं ग्राहयामास। द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणः च। जगतः स्थितिकारणं प्राणिनां साक्षात् अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः यः स धर्मो ब्राह्मणाद्यैः वर्णिभिः आश्रमिभिः च श्रेयोऽर्थिभिः अनुष्ठीयमानः।

दीर्घेण कालेन अनुष्ठातृणां कामोद्‌भवाद् हीयमानविवेकविज्ञानहेतुकेन अधर्मेण अभिभूयमाने धर्मे प्रवर्धमाने च अधर्मे: जगतः स्थितिं परिपिपालयिषुः स आदिकर्ता नारायणाख्यो विष्णुः भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां वसुदेवाद् अंशेन कृष्णः किल सम्बभूव। ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्याद् वैदिको धर्मः तदधीनत्वाद् वर्णाश्रमभेदानाम्।

स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्य-तेजाभिः सदा सम्पन्नः त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्य अजः अव्ययो भूतानाम् ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्ध-मुक्तस्वभावः अपि सन् स्वमायया देहवान् इव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन् इव लक्ष्यते।

स्वप्रयोजनाभावे अपि भूतानुजिघृक्षया वैदिकं हि धर्मद्वयम् अर्जुनाय शोकमोहमहोदधौ निमग्नाय उपदिदेश, गुणाधिकैः हि गृहीतः अनुष्ठीयमानः च धर्मः प्रचयं गमिष्यति इति।

तं धर्मं भगवता यथोपदिष्टं वेदव्यासः सर्वज्ञो भगवान् गीताख्यैः सप्तभिः श्लोकशतैः उपनिबबन्ध।

तद् इदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसङ्ग्रहभूतं दुर्विज्ञेयार्थम्। तदर्थाविष्करणाय अनेकैः विवृतपदपदार्थ-वाक्यार्थन्यायम् अपि अत्यन्तविरुद्धानेकार्थत्वेन लौकिकैः गृह्यमाणम् उपलभ्य अहं विवेकतः अर्थनिर्धारणार्थं सङ्क्षेपतो विवरणं करिष्यामि।

तस्य अस्य गीताशास्त्रस्य सङ्क्षेपतः प्रयोजनं परं निःश्रेयसं सहेतुकस्य संसारस्य अत्यन्तोपरमलक्षणम्। तत् च सर्वकर्मसन्न्यासपूर्वकाद् आत्मज्ञाननिष्ठारूपाद् धर्माद् भवति। तथा इमम् एव गीतार्थधर्मम् उद्दिश्य भगवता एव उक्तम् 'स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने' इति अनुगीतासु। किं च अन्यदपि तत्रैव उक्तम्-

'नैव धर्मी न चाधर्मी न चैव हि शुभशुभी।

यः स्यादेकासने लीनस्तूष्णीं किञ्चिदचिन्तयन्।।'

'ज्ञानं सन्न्यासलक्षणम्' इति च। इह अपि च अन्ते उक्तम् अर्जुनाय-'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इति। अभ्युदयार्थः अपि यः प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो वर्णाश्रमान् च उद्दिश्य विहितः स देवादि- स्थानप्राप्तिहेतुः अपि सन् ईश्वरार्पणबुद्ध्या अनुष्ठीयमानः सत्त्वशुद्धये भवति फलाभि- सन्धिवर्जितः। शुद्धसत्त्वस्य च ज्ञाननिष्ठायोग्यताप्राप्तिद्वारेण ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन च निःश्रेयसहेतुत्वम् अपि प्रतिपद्यते। तथा च इमम् एव अर्थम् अभिसन्धाय वक्ष्यति-'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि', 'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये' इति।

इमं द्विप्रकारं धर्मं निःश्रेयसप्रयोजनं परमार्थतत्त्वं च वासुदेवाख्यं परब्रह्म अभिधेयभूतं विशेषतः-अभिव्यञ्जयद् विशिष्टप्रयोजन-सम्बन्धाभिधेयवद् गीताशास्त्रम्।

यतः तदर्थे विज्ञाते समस्तपुरुषार्थसिद्धिः, अतः तद्विवरणे यत्नः क्रियते मया।

3. उपोद्‌घात का तात्पर्यार्थ

अद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य, आदि शङ्कराचार्य ने प्रस्थानत्रयी पर अपने सुप्रसिद्ध भाष्य लिखे हैं। जिनके अन्तर्गत श्रीमद्‌भगवद्‌गीता पर लिखा गया उनका भाष्य अत्यधिक लोकप्रिय और प्रामाणिक भाष्य है। गीता के श्लोकों पर उनका भाष्य गीता के द्वितीय अध्याय के ग्यारहवें श्लोक से प्रारभ्भ होता है, क्योंकि यहीं से भगवान् ने अर्जुन के लिए अपना उपदेश प्रारभ्भ किया है, परन्तु उससे पूर्व उन्होंने 'उपोद्‌घात' के अन्तर्गत मङ्गलाचरण, सिद्धान्तकथन और अनुबन्धचतुष्टय प्रस्तुत किये हैं। यह विवेचना गीता के स्वरूप और अभिप्राय को समझने के लिए अति आवश्यक है। साथ ही इस विवरण के माध्यम से हमें शङ्कराचार्य ने सृष्टि की उत्पत्ति और उसकी स्थिति के लिए धर्म की महत्ता भी बतलाई है।

मङ्गलाचरण में कहा गया है कि 'नारायण प्रकृति से अतीत है। ब्रह्माण्ड प्रकृति से उत्पन्न है। ब्रह्माण्ड के भीतर ये लोक और सात द्वीपों वाली पृथ्वी है। मङ्गलाचरण की परम्परा का पालन करने के साथ-साथ इस श्लोक के द्वारा आचार्य ने अपना सिद्धान्त भी स्थापित किया है कि ब्रह्म की सत्ता सर्वोपरि है। यह जगत्प्रपञ्च प्रकृति का कार्य है अतः अनित्य है। नित्य तत्त्व तो केवल परमतत्त्व है। ब्रह्म की जीवों से एकता का प्रतिपादन भी इस श्लोक द्वारा किया गया है। शङ्कर की दृष्टि में इस गीताशास्त्र का प्रयोजन मोक्ष है और मुमुक्षु इसका अधिकारी है।

भगवान् नारायण ने जगत् की सृष्टि करके उसकी स्थिति के लिए दो प्रकार के धर्म का उपदेश दिया-(1) उन्होंने मरीचि आदि प्रजापतियों को प्रवृत्तिरूप धर्म अर्थात् 'कर्मयोग' ग्रहण करवाया। (2) उन्होंने सनक, सनन्दन आदि ऋषियों को ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न निवृत्ति रूप धर्म अर्थात् 'ज्ञानयोग' ग्रहण करवाया। दोनों धर्मों की अपनी विशेषताएं हैं और दोनों धर्म वेदों में बतलाये गये हैं। प्रथम धर्म जगत् में लगाने वाला है और दूसरा जगत् से हटाने वाला है। दोनों जीवन-पद्धतियाँ शास्त्रों में विधिवत् प्रतिपादित की गयी हैं।

दीर्घ काल तक धर्म का आचरण करने वाले लोगों में भी समय बीतने पर धीरे-धीरे इच्छाएँ बढ़ने से विवेक और तत्त्वज्ञान कम होने लगा। फलत: अधर्म ने धर्म को दबा लिया। तब संसार की मर्यादा की रक्षा के लिए आदि कर्ता नारायण विष्णु श्रीवसुदेव से देवकी के गर्भ में श्रीकृष्ण के रूप में प्रकट हुए।

भगवान् तो अज, अविनाशी, नित्य शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव हैं। तथापि अपनी त्रिगुणात्मिका माया को वश में करके अपनी लीला से शरीरधारी की तरह उत्पन्न हुए से और लोगों पर अनुग्रह करते हुए से दीखते हैं। उनका अवतरित होने का अपना कोई प्रयोजन नहीं था, पर प्राणियों पर कृपा करने के लिए उन्होंने शोक और मोह के सागर में निमग्न अर्जुन को वेदप्रतिपादित दोनों धर्मों का उपदेश दिया, क्योंकि अधिक गुणी होने से अर्जुन उस उपदेश को समझने, अपनाने और अपने आचरण में लाने में समर्थ था।

भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को धर्म का जैसा उपदेश दिया, उसे ठीक वैसा ही सर्वज्ञ भगवान् वेदव्यास ने 'गीता' नाम से सात सौ श्लोकों में ग्रथित किया। यह गीता-शास्त्र सम्पूर्ण वेदों के अर्थ का सार रूप है। इसका अर्थ समझना कठिन है। अनेकों पूर्व आचार्यों ने इसके तात्पर्य को समझने के लिए कई व्याख्याएँ लिखी हैं। फिर भी साधारण लोग इसे अत्यन्त विपरीतार्थक और अनेकार्थक के रूप में समझते हैं। आचार्य शङ्कर ने इसी कारण गीता पर अपने सिद्धान्तों के अनुसार भाष्य लिखने का विचार किया। उन्होंने अपने भाष्य की दो विशेषताएं बताई हैं-एक तो इसमें तर्कपूर्वक अर्थ का निर्धारण किया जाएगा और दूसरा सर्वत्र संक्षेप ही बरता जाएगा।

गीता के उद्देश्य पर अनुचिन्तन करते हुए भाष्यकार ने अपना मत व्यक्त किया है। तदनुसार गीता का उद्देश्य सांसारिक बन्धनों से मोक्ष पाकर परमानन्द की प्राप्ति करना है। अज्ञान में पड़े जीव के लिए यह जगत् दु:खमय एवं बन्धनस्वरूप है। संसार में दु:खों का मूल अज्ञान है। अज्ञान के निवृत्त होते ही ज्ञान की प्राप्ति होती है और जीव दु:ख-सुख के द्वन्द्वों से मुक्त होकर परमानन्द का अनुभव करता है।

सब कर्मों का त्याग करके केवल आत्मज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। कर्म यदि फलेच्छा से रहित होकर ईश्वरार्पण बुद्धि से किये जाये तो अन्तःकरण की शुद्धि करते हैं। शुद्ध अन्तःकरण में आत्मा का ज्ञान पाने की योग्यता उत्पन्न होती है। इस प्रकार कर्म भी परम्परया मोक्षप्राप्ति में सहायक होते हैं। दोनों धर्मों का प्रयोजन परम कल्याण है। सामान्य रूप में प्रवृत्तिपरक और निवृत्तिपरक धर्म का प्रतिपादिन करना और विशेषरूप से आत्मस्वरूप का प्रतिपादन करना गीता का विषय है। गीता से प्रवृत्ति-मार्ग के अनुयायियों को धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि होती है और निवृत्तिमार्ग के अनुयायियों को मोक्ष की प्राप्ति होती है। गीता का परम प्रयोजन मोक्षप्राप्ति ही है। यह गीताशास्त्र मानव मात्र के लिए परम उपयोगी है। अन्त में आचार्य शङ्कर कहते हैं कि इसीलिए मैं इस पर भाष्य लिखने का यत्न कर रहा हूँ।

4. गीता के उपदेश की पृष्ठभूमि

श्रीमद्भगवद्गीता में अट्ठारह अध्याय हैं, जो मूलतः महाभारत के छठे पर्व अर्थात् भीष्मपर्व के 25-42 अध्याय हैं। सम्पूर्ण गीता 700 श्लोकों में निबद्ध है। गीता के सम्पूर्ण प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्याय के प्रारम्भिक दस श्लोकों में गीता के उपदेश की पृष्ठभूमि है। श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन के प्रति द्वितीय अध्याय के ग्यारहवें श्लोक से वास्तविक उपदेश प्रारम्भ किया है। उससे पूर्व के अंश को आचार्य ने उपदेश का आधार बताया है। गीता के प्रथम अध्याय का नाम है-अर्जुनविषादयोग।

महाभारत की कथा के अनुसार कौरवों और पाण्डवों में बचपन से ही आपसी कलह लगातार बढ़ता चला गया। दुर्योधन को पाण्डवों का छोटा सा राज्य भी सुहाता नहीं था। उसने छलबल से युधिष्ठिर से उनका राज्य छीन लिया। वनवास का समय बीतने के बाद भी वह राज्य देने को तैयार न था। समझौते के सब प्रयत्न विफल हो गये। शान्तिवार्ता के लिए आये श्रीकृष्ण को दुर्योधन ने अपना निर्णय सुनाया, 'केशव! हम पाण्डवों को सुई की नोक के बराबर भी भूमि नहीं देंगे'। अब पाण्डवों के सामने अपना हिस्सा लेने के लिए युद्ध के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं बचा। कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध की इच्छा से कौरवों ने पश्चिमाभिमुख छावनी डाली और पाण्डवों ने अपनी छावनी पूर्वाभिमुख डाली। कौरवों ने अपना सेनापति भीष्म को चुना और पाण्डवों ने धृष्टद्युम्न को। भीष्म पितामह, आचार्य द्रोण, महारथी कर्ण, महाराजा दुर्योधन तथा अनेक कौरवपक्षीय विख्यात पुरुष अपने-अपने शस्त्र-अस्त्र लेकर एक ओर खड़े हो गये। दूसरी ओर महाबली भीम, अद्वितीय धनुर्धर अर्जुन, धर्मराज युधिष्ठिर एवं उनकी शक्तिशाली सेना खड़ी हो गयी। सबसे विशेष बात यह थी कि चक्रधर भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के सारथि बने। प्रातःकाल युद्ध की व्यवस्था के अनुसार दोनों पक्षों के

योद्धाओं ने अपने-अपने शंख फूँके और चारों ओर तरह-तरह के मारू बाजे बजने लगे। आकाश और धरती उस प्रचण्ड घोष से गूँजने लगे। ठीक इसी समय अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा, 'हे कृष्ण! मेरा रथ आप दोनों सेनाओं के बीच में ले चलिये, जिससे मैं यह भली-भांति देख सकूं कि मुझे किनके साथ युद्ध करना है।'

अर्जुन के आग्रह के अनुसार भगवान् ने उसका रथ दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर खड़ा कर दिया और उसे निरीक्षण करने को कहा। अर्जुन ने देखा कि उसके सामने पितामह भीष्म, आचार्य कृप, आचार्य द्रोण, पराक्रमी कर्ण तथा अन्य सगे सम्बन्धी खड़े हैं। सामने स्वजनों को देखकर अर्जुन का हृदय विषाद और दया के कारण व्याकुल हो उठा। उसने कहा, 'हे कृष्ण! अपने ही लोगों को मरने-मारने को उतावला होकर उपस्थित देखकर मेरे अङ्ग सुन्न हो रहे हैं, मुँह सूख रहा है, मेरे शरीर में कँपकँपी छूट रही है और हाथ से गाण्डीव खिसक रहा है। मैं खड़ा भी नहीं रह पा रहा हूँ। मेरा मन व्याकुल होकर विक्षिप्त सा हो रहा है। मैं अपने ही लोगों को युद्ध में मारकर कोई भलाई नहीं देखता। न मैं जीत चाहता हूँ, न राज और न सुख ही। हे गोविन्द! मुझे राज्य से, सुख-साधनों से अथवा जीवन से क्या करना है? जिनके लिए हमें राज, तरह-तरह के भोग चाहिए, वे तो गुरुजन, ताऊ-चाचे, बेटे, दादा लोग, मामे, ससुर, पोते, साले और अन्य रिश्तेदार युद्ध में जान और धन की परवाह न करके खड़े हैं; ये मुझे मारें तब भी तीनों लोकों के आधिपत्य के लिए मैं इन्हें नहीं मारना चाहता। इन महापापियों को मारकर मुझे पाप ही लग सकता है। अपने ही बन्धु धार्तराष्ट्रों को मारना हमारे लिए उचित नहीं है।' फिर उसने आगे सामाजिक दृष्टि से भी युद्ध को अनुचित बताते हुए कहा, 'युद्ध से कुलक्षय के कारण महान् अनर्थ होगा। सदा से चली आईं कुलमर्यादाएँ नष्ट होने लगेंगी। सामाजिक वर्णव्यवस्था भङ्ग हो जाएगी। कुलक्षय करने का पाप मेरे सिर आएगा। इस पाप से तो अच्छा है कि कौरव मुझ शस्त्ररहित को ही मार डालें।' ऐसा कहकर शोक से अभिभूत अर्जुन धनुष को छोड़कर रथ पर बैठ गया। इस प्रकार अर्जुन ने युद्ध के दूरगामी परिणामों को सोचा और युद्ध में नरसंहार को अनुचित बताया। स्पष्ट ही अर्जुन के इस चिन्तन के दो आधार हैं-(1) उसे अपने प्रियजनों से बहुत आसक्ति है और उनकी युद्ध में सम्भावित मृत्यु की चिन्ता उसे विचलित कर देती है। यह उसका शोक है। (2) उसे युद्ध में नरसंहार के कारण होने वाले जातिधर्मों और कुलधर्मों के उच्छेद की आशंका होती है। यह उसका मोह है। इन शोक और मोह रूप दोषों के कारण अर्जुन विषाद से ग्रस्त हो जाता है और अपने कर्तव्य (युद्ध) से विमुख होने की बात कहता है।

अर्जुन की बात सुनकर जब भगवान् ने उसे मानसिक दुर्बलता को छोड़कर उठ

खड़े होने को कहा, तब उसने कहा, 'अपने पूजनीय भीष्म और द्रोण को युद्ध में मारकर मुझे शान्ति कैसे मिलेगी। उनको मारने की अपेक्षा इस संसार में भीख मांगकर खाना अच्छा है। यदि मैं जीत भी गया तो इनके खून से सने राज्य-सुख को कैसे भोग पाऊँगा।' फिर अर्जुन ने एक शिष्य के समान भगवान् की शरण में जाते हुए उनसे मार्ग को निर्दिष्ट करने की प्रार्थना की और स्वीकार किया कि भावुकता से उसे कर्तव्य और अकर्तव्य का भान नहीं रह गया है। इष्टनाश की चिन्ता (**शोक**) और उचित-अनुचित की पहचान न कर पाना (**मोह**) संसार के बीजस्वरूप दोष हैं जो प्राणियों में उत्पन्न होते रहते हैं। अर्जुन ने अपनी बातों द्वारा उनको भगवान् के समक्ष प्रकट किया। भगवान् ने विचार किया कि यदि इन दोषों के कारण अर्जुन अपने कर्तव्य को छोड़कर निषिद्ध कर्म करने की बात कर रहा है तो जब जब संसार में लोग विषाद-ग्रस्त होंगे, ऐसा ही करेंगे। अर्जुन को रोका न गया तो यह एक गलत उदाहरण हो जाएगा। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निमित्त बनाकर सब लोगों पर कृपा करने के लिए गीता का उपदेश दिया। उनके प्रभावशाली उपदेश को असाधारण बुद्धि वाले अर्जुन ने सम्यक् रूप से ग्रहण किया। इससे उसका समस्त शोक और मोह दूर हो गया। उसका विषाद हट गया। उसने अपना कर्तव्य दृढ़तापूर्वक पूर्ण करने का निश्चय किया और अपना धनुष गाण्डीव फिर से हाथ में उठा लिया। अतः अर्जुन और उसके माध्यम से सब मनुष्यों को कर्तव्य-पथ पर आरूढ़ करने का सामर्थ्य जिस उपदेश में है वही श्रीमद्भगवद्गीता है।

शोक और मोह संसार के बीज के समान हैं। उनका नाश होने पर ही व्यक्ति को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है। इसलिए गीता का परम प्रयोजन मोक्ष की प्राप्ति है। शङ्कराचार्य ने अपने भाष्य की भूमिका में गीता के महत्त्व पर लिखा है कि गीता के अर्थ को जानकर मानव-जीवन के चारों पुरुषार्थों- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि होती है। मानव को चारों उद्देश्यों की प्राप्ति कराने वाला होने से गीताशास्त्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

5. द्वितीय अध्याय में वर्णित ज्ञानयोग तथा कर्मयोग

श्रीमद्भगवद्गीता में अध्यात्म और जीवन के अनेक विषयों की गम्भीर विवेचना प्रस्तुत की गई है। यह मनुष्य के लिए आचारमीमांसा का प्रतिपादन करती है। गीता में ज्ञान, कर्म और भक्ति के सिद्धान्तों की विशद समीक्षा मिलती है। प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में घोषित किया गया है कि श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद के माध्यम से यह ब्रह्मविद्या पर आधारित योगशास्त्र है। गीता एक अद्भुत ग्रन्थ है जिसमें अनेक विचारों को सरलता से आत्मसात् किया गया है। यही कारण है कि मनीषियों ने अनेक दृष्टियों

से इसके सिद्धान्तों की व्याख्या की है और अपने-अपने मत व्यक्त किये हैं। यहाँ श्लोकों के अर्थ-ग्रहण के लिए मुख्य रूप से आचार्य शङ्कर के भाष्य को आधार बनाया गया है। गीता के द्वितीय अध्याय का नाम है-**साङ्ख्ययोग**। इसमें विशेष रूप से ज्ञानयोग और कर्मयोग का प्रतिपादन हुआ है। दो प्रकार की जीवन-प्रणालियों का स्पष्ट उल्लेख गीता में देखा जा सकता है-

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।

-गीता 3/3

अर्थात् 'हे निर्दोष अर्जुन! इस संसार में बहुत पहले मैंने दो प्रकार की जीवन-प्रणालियों का उपदेश दिया था। चिन्तनशील व्यक्तियों के लिए ज्ञानयोग का और कर्मशील व्यक्तियों के लिए कर्मयोग का।' यहाँ उपदेष्य गुरु श्रीकृष्ण शिष्य अर्जुन को आधुनिक मनोवैज्ञानिक की भांति साधकों के दो मुख्य प्रकारों में अन्तर बता रहे हैं। पहले अन्तर्मुख हैं जिनकी प्रवृत्ति आन्तरिक आत्मा को खोजने में है और दूसरे बहिर्मुख हैं जिनका झुकाव बाह्य संसार में कार्य करने की ओर होता है। पहले ज्ञानयोगी हैं और दूसरे कर्मयोगी। गीता की दृष्टि में कर्म का मार्ग भी मुक्ति के लिए उतना ही समर्थ साधन है जितना कि ज्ञान का मार्ग। ये दोनों अलग-अलग श्रेणियों के व्यक्तियों के लिए हैं। दोनों मार्ग वेद द्वारा समर्थित हैं। एक निवृत्तिमूलक मार्ग है, तो दूसरा प्रवृत्तिमूलक। गीता का विषय निवृत्तिपरक धर्म और प्रवृत्तिपरक धर्म का प्रतिपादन है। ज्ञानयोग और कर्मयोग के सन्दर्भ में गीता का यह श्लोक उल्लेखनीय है-

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर् योगेत्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।।

-गीता 2/39

अर्थात् 'हे पार्थ! यह मैंने तुझे सांख्य का ज्ञान बताया। अब तुम योग का ज्ञान सुनो। इस ज्ञान को ग्रहण कर तुम कर्म के बन्धनों को छोड़ दोगे।' यहाँ स्पष्ट रूप से ज्ञानयोग को 'साङ्ख्यबुद्धि' और कर्मयोग को 'योगबुद्धि' कहा गया है और बताया गया है कि पहले दिया गया तत्त्वज्ञान का उपदेश ज्ञानयोग है और अब दिया जाने वाला उपदेश कर्मयोग है। अज्ञानजन्य शोक-मोह से वशीभूत हो अर्जुन अपना कर्तव्य छोड़ बैठा। उसे कर्तव्य की ओर मोड़ना तभी सम्भव था जब उसका अज्ञान नष्ट हो जाये। अतः उसके लिए ज्ञानोपदेश आवश्यक था।

भगवान् ने अर्जुन को सबसे पहले समझाया कि स्वजनों की मृत्यु की चिन्ता से उत्पन्न उसका शोक निराधार है क्योंकि सब लोग तत्त्वत: नित्य हैं। 'मृत्यु शोचनीय नहीं है' इस बात को समझाने के लिए पहले उसे आत्मा के स्वरूप का ज्ञान कराया। बुद्धिमान् लोग मरे जिये की चिन्ता नहीं करते हैं। शरीर नष्ट होने पर भी आत्मा नष्ट नहीं होता है। शरीर, इन्द्रिय तथा उससे होने वाले सुख-दु:ख नष्ट होने वाले ही हैं। अत: नित्य और अनित्य दोनों के नाश का शोक अनुचित है। जो सुख-दु:ख से प्रभावित नहीं होता वहीं परमानन्द प्राप्त करता है। मिथ्या की सत्ता नहीं होती और सत् का अभाव नहीं होता। सत् अनश्वर, अव्यय और सर्वव्यापक है। नित्य आत्मा के देह नाशवान् ही हैं। देह का स्वामी आत्मा विकारहीन है। न वह जन्म लेता है और न मरता है। आत्मा के लिए शरीर बदलना मनुष्य के वस्त्र बदलने जैसा है। आत्मा किसी भी क्रिया का कर्म नहीं है इसलिए शस्त्र उसे काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकता, जल भिगो नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकता। गतिहीन, सदा एक सा रहने वाला, निर्विकार, सनातन, नित्य आत्मा को कोई भी नष्ट नहीं कर सकता है। आत्मा स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर से भिन्न है। प्रत्येक जन्म लेने वाले की मृत्यु ध्रुव है और मर चुके का जन्म अटल है, इसलिए भी मृत्यु का शोक अनुचित है। सभी भूतों का आदि और अन्त अव्यक्त, अज्ञात होता है, केवल जन्म के बाद और मरने से पहले ही वे व्यक्त होते हैं। जन्म से पहले क्या, कहाँ थे कोई नहीं जानता, मरने के बाद, क्या, कहाँ होंगे, कोई नहीं जानता। इसलिए पहले अनुपलब्ध, फिर उपलब्ध और फिर अनुपलब्ध, के नाश पर क्या शोक करना। आत्मज्ञान सर्वोच्च वस्तु होते हुए भी अत्यन्त दुष्कर है। इसे तो कोई विरला ही प्राप्त कर सकता है। लोग इसे आश्चर्य की तरह देखते हैं, बोलते हैं, सुनते हैं और बार-बार सुनकर भी नहीं समझ पाते। आत्मा के स्वरूप को जान लेने पर और आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर अज्ञान नष्ट हो जाता है। अद्वैतबुद्धि ज्ञान है, तो द्वैतबुद्धि अज्ञान। आत्मा को जानना ही उसको पाना है। सर्वत्र एक आत्मा का दर्शन करने वाला आत्मज्ञानी है। अभेददृष्टि की उपलब्धि ही ज्ञान है। ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। गीता (2/11-30) में 'ज्ञानयोग' या 'साङ्ख्ययोग' नाम से भगवान् ने आत्मज्ञान का वर्णन किया है।

जो मनुष्य ज्ञानमार्ग के लिए पूरी तरह से योग्य नहीं हैं और फलों की लालसा से कर्मों में ही लगे रहते हैं उनके कल्याण के लिए 'कर्मयोग' या 'योगबुद्धि' ही एक मात्र उपाय है। मनुष्यलोक कर्मलोक है। मनुष्य कुछ कर्म सुखप्राप्ति के लिए करता है, तो कुछ दु:खनिवारण के लिए। सुख से सबको राग होता है और दु:ख से द्वेष। राग-द्वेषपूर्वक कर्म करने से मनुष्य सुख या दु:ख प्राप्त करता है। राग, द्वेष आदि वासनाएं बन्धन हैं,

कर्म बन्धन नहीं हैं। इसलिए रागद्वेषपूर्वक किये गये कर्म मनुष्य के लिए बन्धनरूप हैं। यदि निर्दिष्ट कर्मों को राग और द्वेष से रहित होकर कर्तव्यबुद्धि से किया जाये तो ये कर्म मनुष्य के लिए बन्धनकारक नहीं होंगे। इसीलिए श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'अब मैं तुम्हें वह ज्ञान दे रहा हूँ जिसको ग्रहण कर तुम कर्म के बन्धनों को छोड़ दोगे'। निष्काम कर्मयोग के अभ्यास से कर्मबन्धन कट जाता है।

कर्मयोग की प्रशंसा में कहा गया है कि यह कभी भी व्यर्थ नहीं जाता है। इसका थोड़ा सा अनुष्ठान भी बड़े डर से बचाता है। सकाम कर्ममार्ग के समस्त फल निष्काम कर्मयोग में स्वत: समाहित हो जाते हैं। कर्मयोग के सिद्धान्त की चार आधारभूत बातों का उल्लेख 47वें श्लोक में किया गया है-

(1) तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने में है।

(2) तुम्हारा अधिकार फलों में नहीं है।

(3) मनुष्य को कर्मफल को निमित्त बनाकर कर्म नहीं करना चाहिए।

(4) कर्मों को न करने में भी तुम्हारी रुचि नहीं होनी चाहिए।

ये चारों तथ्य परस्पर सम्बद्ध हैं और मनुष्य को बिना कामना के कर्म में सतत प्रवृत्त रहने की प्रेरणा देते हैं। निष्काम कर्मयोग से मनुष्य सफलता और विफलता में एक सा रहना सीख जाता है। बुद्धि की यही साम्यावस्था वस्तुत: कर्मों की कुशलता है-योग: कर्मसु कौशलम्। सकाम कर्म निष्काम कर्म की तुलना में बहुत हीन कोटि का है। सकाम कर्म मनुष्य को कर्मफल के बन्धन में बाँधता है और निष्काम कर्मयोग चित्त की शुद्धि करता है, जिससे साधक शान्ति और आनन्द की स्थिति में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसी स्थिति को 'स्थितप्रज्ञता' नाम दिया गया है।

कर्मयोग की प्राप्ति का लक्षण स्थितप्रज्ञता है। स्थितप्रज्ञ के स्वरूप पर अर्जुन ने चार प्रश्नों द्वारा जिज्ञासा की, तब श्रीकृष्ण ने द्वितीय अध्याय के बाद के सत्रह श्लोकों में स्थितप्रज्ञ के स्वरूप और व्यवहार की विवेचना की। स्थितप्रज्ञ इन्द्रियों को वश में रखकर राग-द्वेष से रहित होकर सांसारिक विषयों का भोग करता है। वह मन पर भी भलीभांति नियन्त्रण रखता है। मन नियन्त्रण में न हो तो वह स्वयं इन्द्रियों के पीछे-पीछे दौड़ता है और साथ ही प्रज्ञा को भी नष्ट कर देता है। टिकी हुई प्रज्ञा वाला साधक इन्द्रिय और मन के सुनिग्रह के कारण परमशान्ति को प्राप्त करता है। यह शान्ति और कुछ नहीं मोक्षरूप ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति ही है। इस प्रकार कर्मयोगी भी अन्तत: मोक्षप्राप्ति के योग्य हो जाता है। इस प्रकार गीता ज्ञानियों के लिए ज्ञानयोग का शास्त्र है और कर्मशील संसारी जनों के लिए कर्मयोग का शास्त्र है। अत एव सभी मनुष्यों के कल्याण के लिए गीता की उपादेयता है।

श्रीवेदव्यास ने महाभारत में गीता का संयोजन करने के पश्चात् उसकी प्रशंसा में लिखा है-

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता।

-भीष्मपर्व 43/1

अर्थात् 'सुगीता गीता का भली प्रकार अध्ययन कर लेना चाहिए जो कि स्वयं पद्मनाभ भगवान् के मुखारविन्द से निकली है। इसके पश्चात् अन्य ग्रन्थों के अध्ययन की आवश्यकता नहीं रहती हैं।'

• • •

श्रीमद्भगवद्गीता

गीता-विमर्श

द्वितीयोऽध्यायः

सञ्जय ने कहा—भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से बातचीत प्रारम्भ की।

सञ्जय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।। १।।

अन्वय और अर्थ—अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्=आँसुओं से पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रों वाले, **तथा**=इस प्रकार, **कृपया**=दया से, **आविष्टम्**=भरे हुए, **विषीदन्तम्**=और विषाद करते हुए, **तम्**=उस (अर्जुन) को, **मधुसूदनः**=मधु नामक दैत्य को मारने वाले (श्री कृष्ण) ने, **इदम्**=यह, **वाक्यम्**=बात, **उवाच**=कहीं।

व्याख्या-कुरुक्षेत्र के मैदान में महाभारत-युद्ध के प्रथम दिन अर्जुन ने अपने सारथि बने श्रीकृष्ण को निरीक्षण करने के उद्देश्य से रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले जाने को कहा। दोनों पक्षों में पूज्य और स्वजनों को देखकर उसका हृदय दयार्द्र हो उठा और उसने कहा कि-कौरवों और पाण्डवों के बीच यदि युद्ध हुआ तो दोनों पक्षों में स्वजनों का संहार होगा और कुलक्षय के कारण कुलधर्म और जातिधर्म उच्छिन्न हो जायेंगे—अतः यह युद्ध करना उचित नहीं है। शोक और मोह के कारण विषाद-ग्रस्त अर्जुन अपने रथ पर बैठ गया और उसने युद्ध न करने का निर्णय लिया। प्रस्तुत श्लोक में उसी कथासूत्र को जोड़ते हुए सञ्जय धृतराष्ट्र से कहते हैं कि इस प्रकार विचार करके अपने बन्धुजनों के प्रति अर्जुन का हृदय करुणा भाव से व्याप्त हो गया, उसके नेत्र आसुँओं से भर गये और दृष्टि में व्याकुलता झलकने लगी। वह पूरी तरह से दुःखी और निराश हो गया। इस युद्ध को करना उसके लिए कदापि सम्भव नहीं है—इस भावना से व्यथित मन वाले अर्जुन ने जब भगवान् श्रीकृष्ण के सम्मुख अपना विषाद

प्रकट किया तब उसे कर्तव्य समझाने के उद्देश्य से भगवान् मधुसूदन ने अगले दो श्लोक कहे।

श्रीकृष्ण के अनुपम गुणों और कर्मों के वाचक उनके अनेक नाम और विशेषण हैं। यहाँ सञ्जय ने 'मधुसूदन' नाम से उनका उल्लेख करते हुए मधु नामक दैत्य को मारने जैसे उनके वीरकृत्यों का स्मरण किया है।

टिप्पणी-आविष्टम्-आ+√विश् (प्रवेश करना)+क्त प्रत्यय। **अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्**-अश्रुभिः पूर्णे आकुले ईक्षणे यस्य तम् (बहुव्रीहि)। **मधुसूदनः**-मधुं सूदयति इति सः (उप० तत्पुरुष)। **विषीदन्तम्**-वि+√ सद् (उदास होना)+शतृ, पुं०, द्वि० विभक्ति एक०।

Eng. Tran.—

Sañjaya said : To him who was thus overcome by pity, whose eyes were filled with tears and troubled and who was much depressed in mind, Madhusūdana (Kṛṣṇa) spoke this word. (1)*

• • •

श्रीभगवान् ने कहा-तुममें यह मन की मलिनता कहां से?

श्रीभगवानुवाच-

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।।२।।

अन्वय और अर्थ–अर्जुन=हे अर्जुन, **विषमे**=इस विकट समय पर, **अनार्यजुष्टम्**=नीच लोगों द्वारा अपनायी जाने वाली, **अकीर्तिकरम्**=अपयश कराने वाली, **अस्वर्ग्यम्**=(और) स्वर्गप्राप्ति की विरोधी, **इदम्**=यह, **कश्मलम्**=मन की मलिनता रूप कायरता, **त्वा**=तुममें, **कुतः**=कहाँ से, **समुपस्थितम्**=आ गयी?

व्याख्या–भगवान् श्रीकृष्ण सर्वप्रथम निराश अर्जुन की मनः स्थिति के प्रति आश्चर्य प्रकट करते हैं- इतने वीर योद्धा तुममें इस भयंकर समय में यह मन की मलिनता कहाँ से आ गयी? युद्ध के मैदान में कर्तव्य के रूप में प्राप्त इस युद्ध से

---

* *The Bhagavadgītā, A source Book in Indian Philosophy,* edited by Sarvepalli Radhakrishnan and Charles A. Moore, Princeton University Press, NJ, USA, 1973, pp. 106-112.

विमुख होने की बातें करना एक वीर क्षत्रिय को शोभा नहीं देता है। युद्ध का अवसर वीरता और पराक्रम दिखाने का है। करुणा और दयाभाव प्रकट करने का नहीं। विषम सपय में उसके अनुकूल भावों की उत्पत्ति होनी चाहिए। इस अवसर पर उमड़ी यह करुणा तुम्हें युद्ध से विमुख कर रही है इसलिए यह कायरता है। यह काय़रता तो मन की मलिनता है। यह श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा नहीं, कायरों द्वारा अपनायी जाती है। यह स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाले पुण्यकर्मों की विरोधिनी और नरक की ओर ढकेलने वाली है। यह कायरता इस संसार में तुम्हारे अपयश का कारण बन सकती है। इसलिए हे अर्जुन! अपने मन की इस कायर भावना को शीघ्र छोड़ना तुम्हारे लिए अति आवश्यक है।

टिप्पणी-कश्मलम्-√कश् (शब्द करना)+कल, मुट्; लज्जाकर, घृणित, मोह, मन की उदासी। **अनार्यजुष्टम्**-आर्येण जुष्टम् (तृतीया तत्पुरुष समास), न आर्यजुष्टम् अनार्यजुष्टम् (नञ् तत्पुरुष)। **अस्वर्ग्यम्**-न स्वर्ग्यम् अस्वर्ग्यम् (नञ् तत्पुरुष)। **अकीर्तिकरम्**-न कीर्तिकरम् अकीर्तिकरम् (नञ् तत्पुरुष)। **समुपस्थितम्**- सम+उप+√स्था (रुकना)+क्त।

Eng. Tran.—

The Blessed Lord said: Whence has come to thee this stain (this dejection) of spirit in this hour of crisis? It is unknown to men of noble mind (not cherished by the Āryans); it does not lead to heaven; (on earth) it causes disgrace, O Arjuna. (2)

• • •

भगवान् द्वारा अर्जुन को हृदय की दुर्बलता छोड़ने की प्रेरणा।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ।। ३ ।।

अन्वय और अर्थ-पार्थ=हे पार्थ!, **क्लैब्यम्**=नपुंसकता, **मा स्म गमः**=मत प्राप्त करो। **त्वयि**=तुममें, **एतत्**=यह, **न उपपद्यते**=अच्छी नहीं लगती। **परन्तप**=हे दूसरों को तपाने वाले, **क्षुद्रम्**=(इस) छोटी, **हृदयदौर्बल्यम्**=हृदय की दुर्बलता को, **त्यक्त्वा**=छोड़कर, **उत्तिष्ठ**=खड़े हो जाओ।

व्याख्या—हे अर्जुन! सब सन्धिप्रयासों के विफल होने पर युद्ध की घोषणा हुई है। अब तुम्हारा युद्ध से विमुख होने का निर्णय तुम्हारी कायरता और नपुंसकता को प्रकट कर रहा है। युद्ध शुरू होने से पूर्व युद्ध के दोषों को देखकर हटना फिर भी उचित ठहराया जा सकता है, पर अब तो उसका औचित्य कदापि नहीं है। यह क्षात्र-धर्म के

विपरीत है। तुम्हारे जैसे बुद्धिमान् और पराक्रमी के लिए यह सर्वथा अनुचित है। क्षत्रिय को तो शूरता प्रदर्शित करने का यही मौका है। तुम्हें तो 'परन्तप' कहा जाता है क्योंकि तुम शत्रुओं को सन्तप्त करने वाले और उन्हें उनके अनाचार के लिए समुचित दण्ड देने वाले हो, फिर उत्साह के स्थान पर यह निराशापूर्ण वचन कहकर अपने हृदय की दुर्बलता को क्यों दिखा रहे हो। यह कमजोर भाव तुरन्त छोड़ दो और युद्ध के कर्तव्य कर्म को करने के लिए सन्नद्ध होकर खड़े हो जाओ। शूरता वीर की शोभा है और कायरता उसकी दुर्बलता है।

टिप्पणी—हृदयदौर्बल्यम्-हृदयस्य दौर्बल्यम् (षष्ठी तत्पुरुष)। **गमः**-√गम् (जाना), लुङ्, म० पु० एक०। **त्यक्त्वा**-√त्यज् (छोड़ना)+त्वा। **उत्तिष्ठ**-उत्+√स्था (>तिष्ठ, रुकना), लोट्, म० पु० एक०। **उपपद्यते**-उप+√पद् (जाना), लट्, प्र० पु० एक०।

Eng. Tran.—

Yield not to this unmanliness, O Pārtha (Arjuna), for it does not become thee. Cast off this petty faintheartedness and arise, O Oppressor of the foes (Arjuna). (3)

• • •

अर्जुन ने कहा—पूज्यों को मार कर शान्ति कैसे मिलेगी?

अर्जुन उवाच–

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन।।४।।

अन्वय और अर्थ—अरिसूदन=हे शत्रुओं का विनाश करने वाले, **मधुसूदन**=श्रीकृष्ण!, **सङ्ख्ये**=युद्ध में, **अहम्**=मैं, **पूजार्हौ**=पूजा के योग्य, **भीष्मम्**=भीष्म पितामह, **च**=और, **द्रोणम्**=द्रोणाचार्य के प्रति, **इषुभिः**=बाणों से, **कथम्**=कैसे, **प्रतियोत्स्यामि**=बाणों का जवाब दूँगा (या विरुद्ध लड़ूँगा)।

व्याख्या—भगवान् श्रीकृष्ण के वचन सुनकर अर्जुन ने अपने मन की बात उनके सामने रखी-हे शत्रुनाशन्! हे मधुसूदन! पूज्य जनों के प्रति शस्त्र उठाना मेरे लिए कैसे सम्भव हो सकता है? आततायी दुर्योधन आदि के विरुद्ध शस्त्र उठाना और उन्हें युद्ध में मारना तो ठीक है किन्तु यहाँ तो युद्ध-स्थल में मेरे पूज्यजन भी खड़े हैं। भीष्म पितामह और गुरु द्रोणाचार्य को युद्ध में मैं उनके बाणों का जवाब बाणों से कैसे दूँगा?

उनके विरुद्ध जाने का साहस भी करना मेरे लिए अनैतिक आचरण होगा, ऐसा करना मेरे संस्कारों के विपरीत है। मैं तो उनका अपमान करने का विचार तक मन में नहीं ला सकता हूँ, वाणी से कहना और शस्त्र उठाना तो दूर की बात है। अतः युद्ध में मैं उनके विरुद्ध हथियार कैसे उठा सकता हूँ, इसीलिए मैंने युद्ध से विमुख होने का निश्चय किया है।

टिप्पणी–पूजार्हौ-पूजाम् अर्हतः इति तौ (उप०तत्पुरुष)। **अरिसूदन**-अरीन् सूदयति इति (उप० तत्पुरुष)। **प्रतियोत्स्यामि**-प्रति+√युध् (युद्ध करना), लृट्, उ० पु० एक०।

Eng. Tran.—

Arjuna said : How shall I strike Bhīṣma and Droṇa who are worthy of worship, O Madhusūdana (Kṛṣṇa), with arrows in battle, O Slayer of foes (Kṛṣṇa). (4)

• • •

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्।।५।।

अन्वय और अर्थ–महानुभावान्=बड़े तेजस्वी, **गुरून्**=अपने पूज्यजनों को, **हि**=निश्चय ही, **अहत्वा**=न मारकर, **इह लोके**=इस लोक में, **भैक्ष्यम्**=भिक्षा का अन्न, **अपि**=भी, **भोक्तुम्**=खाना, **श्रेयः**=अच्छा है। **अर्थकामान्**=अर्थ की कामना करने वाले, **गुरून्**=अपने पूज्यजनों को, **हत्वा**=मारकर, **तु**=तो (मैं), **इह**=यहाँ (इस लोक में) **एव**=ही, **रुधिरप्रदिग्धान्**=(उनके) खून से सने, **भोगान्**=भोगों को, **भुञ्जीय**=भोगूँगा।

व्याख्या–निराश अर्जुन पुनः कहता है कि अपने पूज्यनीय, तेजस्वी और हितैषी गुरुजनों को मैं कैसे मार सकता हूँ? यह महापाप मैं कैसे कर सकता हूँ? इस पाप से बचने के कारण ही युद्ध छोड़ना मुझे ठीक लग रहा है। रही बात जीवन-यापन की, तो फिर राज्य आदि के अभाव में जीवन-निर्वाह के लिए भिक्षा माँग लूँगा। गुरुजनों को मारने की तुलना में भीख माँगना मुझे अच्छा प्रतीत हो रहा है। मैं इस अवसर पर क्षत्रिय-धर्म को निभाने के स्थान पर भिक्षावृत्ति अपनाना अधिक श्रेयस्कर समझता हूँ। यदि मैं युद्ध में प्रवृत्त होकर अर्थलिप्सु गुरुजनों का संहार करता हूँ और विजय प्राप्त करके राज्य का अधिपति बन जाता हूँ-तब भी तो मैं इसी लोक में इनके खून से सने भोगों को ही भोगूंगा। ऐसे राज्य-भोग से भी मुझे शान्ति कहाँ मिलेगी। इसीलिए मैंने युद्ध से विमुख होने का निश्चय किया है।

टिप्पणी–महानुभावान्-महान् अनुभाव: येषां तान् महानुभावान् (बहुव्रीहि)। **अर्थकामान्**-अर्थ: काम: येषां तान्, अर्थकामान् (बहुव्रीहि)। **रुधिरप्रदिग्धान्**-रुधिरेण प्रदिग्धान् (तृतीया तत्पुरुष)। **हत्वा**-√हन् (मारना)+क्त्वा। **भुञ्जीय**-√भुज् (भोग करना), विधिलिङ्, उ०पु० एक०। **अहत्वा**-न हत्वा अहत्वा (नञ् तत्पुरुष)।

Eng. Tran.—

It is better to live in this world even by begging than to slay these honoured teachers. Though they are mindful of their gains, they are my teachers and by slaying them, only, I would enjoy in this world delights which are smeared with blood. (5)

• • •

मेरा मन संशयग्रस्त है।

न चैतद्विद्म: कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयु:।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिता: प्रमुखे धार्तराष्ट्रा:।। ६।।

अन्वय और अर्थ–च=और, **एतत्**=यह (हम), **न**=नहीं, **विद्म:**=जानते, **कतरत्**=(कि दोनों में से) कौन एक, **न:**=हमारे लिए, **गरीय:**=अच्छा है, **यद् वा**=अथवा, **जयेम**=हम (इनको) जीतेंगे, **यदि वा**=या कि, **न:**=(ये लोग) हमें, **जयेयु:**=जीत लेंगे। **यान्**=जिनको, **हत्वा**=मारकर, **न जिजीविषाम: एव**=हम जीना ही नहीं चाहते, **ते**=वे, **धार्तराष्ट्रा:**=धृतराष्ट्र के पक्ष के लोग, **प्रमुखे**=(हमारे) सामने (मरने को तैयार), **अवस्थिता:**=खड़े हैं।

व्याख्या- पुन: अर्जुन भगवान् के समक्ष अपने मन की शंका प्रकट करता है। मुझे अपने कर्तव्य और अकर्तव्य का भान नहीं रह गया है। इस विशाल सेना में हमारे सामने धृतराष्ट्र के पक्ष में वे ही पूज्यजन लड़ाई के लिए तैयार खड़े हैं जिन्हें मारकर हम जीना नहीं चाहते हैं।

युद्ध के दो ही परिणाम होते हैं-विजय अथवा मृत्यु। यदि विजय हुई तो हम इन कौरवों को जीत लेंगे और राज्य को प्राप्त करेंगे। यदि ये लोग हमें जीत लेंगे तो हम मृत्यु को प्राप्त हो जायेंगे। हे भगवन्! मुझे यह नहीं पता कि इन दोनों स्थितियों में कौन सी स्थिति मेरे लिए ठीक होगी-हमारी जीत या हमारी हार। हमारे लिए क्या उचित है और क्या अनुचित-यह हम नहीं जानते हैं। मुझे तो इतना समझ आ रहा है कि मैं अपने पूज्यजनों पर शस्त्र नहीं चला सकता हूँ। इस अनर्थ से तो यही अच्छा है कि राज्य दुर्योधन के पास रहने दिया जाए और युद्ध न किया जाए।

टिप्पणी—**विद्मः**-√विद् (जानना), लट्, उ०पु०एक०। **जयेम**-√जि (जीतना), विधिलिङ्, उ०पु० बहु०। **जिजीविषामः**-√जीव् (जीना)+सन्-जिजीविष्, लट्, उ०पु० बहु०। **अवस्थिताः**-अव+√स्था (रुकना)+क्त। **धार्तराष्ट्राः**-कौरव प्रमुख धृतराष्ट्र की सन्तानें और उसके पक्ष के लोग धार्तराष्ट्र कहे गये हैं। धृतराष्ट्र+त्र (सम्बन्धार्थक तद्धित प्रत्यय)।

Eng. Tran.—

Nor do we know which for us is better, whether we conquer them or they conquer us. The sons of Dhṛtarāṣṭra, whom if we slew we should not care to live, are standing before us in battle array. (6)

• • •

मुझ शरणागत को मेरे कल्याण का मार्ग बताए।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।७।।

अन्वय और अर्थ—**कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः**=कृपणता एवं दीनता के दोष से दबे हुए (क्षात्र) स्वभाव वाला, **धर्मसम्मूढचेताः**=और कर्तव्य के विषय में भ्रान्त चित्त वाला मैं, **त्वाम्**=तुमसे, **पृच्छामि**=पूछ रहा हूँ, **यत्**=जो, **श्रेयः**=कल्याणकर **स्यात्**=हो, **तत्**=वह, **मे**=मुझे, **निश्चितम्**=निश्चय ही, **ब्रूहि**=बताएँ, **अहम्**=मैं, **ते**=तुम्हारा, **शिष्यः**=शिष्य हूँ। **त्वाम्**=तुम्हारी, **प्रपन्नम्**=शरण में आए हुए, **माम्**=मुझे, **शाधि**=तुम अनुशासित करो।

व्याख्या—अर्जुन अपने हृदय में उमड़ी करुणा के विषय में विचार करते हुए, श्री कृष्ण से कहता है कि युद्धकाल में दया, ममता का हृदय में आना ठीक नहीं है—यह मैं जानता हूँ परन्तु स्वजनों को मरने-मारने पर उतारू देखकर मेरा हृदय दया से भर गया है। असमय उत्पन्न हुई यह दया दोष ही है जिससे वीर क्षत्रिय का मेरा स्वभाव दब गया है। फिर सन्दिग्ध बुद्धि वाला हो जाने से मेरा चित्त भी संशयग्रस्त हो गया है। मुझे अपने लिए धर्म अर्थात् कर्तव्य नहीं सूझ रहा। मैं अपने लिए उचित कर्म (धर्म) को जानना चाहता हूँ। अतः हे भगवन्! मैं आपसे विनम्र भाव से पूछता हूँ कि जो मेरे लिए कल्याणकारी हो वह बताएँ। इस स्थिति में आप ही मुझे सही मार्ग दिखा सकते हैं। अर्जुन और अधिक विनम्र होकर स्वयं को उनका शिष्य और शरणागत कहता है। जैसे गुरु शिष्य को बताता है वैसे ही आप मुझे मेरा कर्तव्य कर्म बताएं। मैं आपकी शरण

में उपस्थित हूँ। आप मुझे शिक्षा दें और मेरे लिए सही मार्ग बताएँ। इस प्रकार विषाद के कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हुआ अर्जुन दीनतापूर्वक भगवान् से अपने लिए आचरण योग्य आदेश की हार्दिक इच्छा व्यक्त करता है। उसने भगवान् से कर्म का अनुशासन चाहा है क्योंकि वह कर्तव्यपरायण है। स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण जैसे सुयोग्य उपदेशक ने स्वयं से उपदेश देना प्रारम्भ नहीं किया। मित्र अर्जुन के दुःख की वार्ता सुनने के अनन्तर भी जब उसने उनसे मार्गदर्शन करने की अनुनय की और उचित मार्ग जानने की अपनी इच्छा पूरी निष्ठा के साथ प्रकट की तभी भगवान् ने समझ लिया कि यह उपदेश का उचित पात्र है और उपदेश देने का यही उचित समय है। अर्जुन के समान साधक को भी अपने दोषों को पहले समझना चाहिए और फिर भगवान् की इच्छा को जानने का यत्न कर अपना कर्तव्य करना चाहिए।

टिप्पणी–कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः-कार्पण्यम् एव दोषः (कर्मधारय), तेन उपहतः स्वभावः यस्यः सः कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः (बहुव्रीहि)। **स्यात्**-√अस् (होना), विधिलिङ्, प्र०पु० एक०। **ब्रूहि**-√ब्रू (कहना), लोट्, म० पु० एक०। **शाधि**-√शास् (शिक्षा देना), लोट्, म०पु० एक०। **धर्मसम्मूढचेताः**-धर्मेण संमूढं चेतः यस्य सः धर्मसम्मूढचेताः (बहुव्रीहि)।

Eng. Tran.—

My very being is stricken with the weakness of (sentimental) pity. With my mind bewildered about my duty, I ask Thee. Tell me, for certain, which is better. I am Thy pupil; teach me, who am seeking refuge in Thee. (7)

• • •

मुझे शोक के निवारण का उपाय नहीं सूझता।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्।।८।।

अन्वय और अर्थ–भूमौ=सम्पूर्ण पृथिवी पर, **असपत्नम्**=निष्कण्टक, **ऋद्धम्**=और समृद्ध, **राज्यम्**=राज्य को, **च**=और, **सुराणाम्**=देवताओं के, **आधिपत्यम्**=स्वामित्व को, **अपि**=भी, **अवाप्य**=प्राप्त करके, **इन्द्रियाणाम्**=(मेरी) इन्द्रियों को, **उच्छोषणम्**=सुखाने वाले, **मम**=मेरे, **शोकम्**=शोक को, **यत्**=जो, **अपनुद्यात्**=हटा सके, **तत्**=ऐसा कुछ, **हि**=निश्चय ही, **न प्रपश्यामि**=मैं नहीं देख पा रहा हूँ।

व्याख्या–अपनी वार्ता के उपसंहार में अर्जुन अपनी असमर्थता और निराशा की अभिव्यक्ति एक बार फिर करते हुए कहता है कि युद्ध के दो ही परिणाम होते हैं– 1. विजय अथवा 2. मृत्यु। यदि मैंने युद्ध में दुर्योधन और अपने कौरव-बान्धवों तथा गुरुजनों को मारकर विजय हासिल की तो मुझे एक शत्रुरहित और समृद्ध राज्य प्राप्त होगा। इसके विपरीत यदि मैंने युद्ध में मृत्यु प्राप्त की, तो शास्त्रानुसार मुझ क्षत्रिय को अपना कर्तव्य निभाते हुए मरने के कारण देवलोक मिलेगा। किन्तु मैं समझता हूँ कि मेरे मन पर छाया हुआ शोक न तो निष्कण्टक राज्य की प्राप्ति से दूर होगा और न देवलोक का अधिपति बन जाने से ही हटेगा। स्वजनों के नाश की चिन्ता से उत्पन्न यह शोक इतना घना है कि इसने मेरी सारी इन्द्रियों को सुखाकर निश्चेष्ट सा कर लिया है। इसी कारण युद्ध करना मेरे लिए सम्भव नहीं है। इस प्रकार अधिक आत्ममन्थन कर अर्जुन ने यह जान लिया कि यह शोक ही उसके कर्तव्य युद्ध को करने में बाधक है। शोक और मोह ही उसके विषाद के कारण हैं और विषादग्रस्त व्यक्ति कर्तव्य कर्म में कैसे प्रवृत्त हो सकता है।

इस प्रकार अर्जुन की उक्तियाँ उसके मानसिक तनाव को प्रकट करती हैं, पर साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वह अतीव बुद्धिमान्, निपुण, कर्मनिष्ठ, चिन्तनशील और विनम्र युवक है जिसे अपने कर्तव्य की बाधक परिस्थितियों से मुक्ति की हार्दिक अभिलाषा है। जिसे अपने धर्म का ज्ञान तो है पर मानसिक विषाद के कारण वह उससे भटक गया है और अब इस व्यामोह से मुक्त होना चाहता है।

टिप्पणी–**अपनुद्यात्**-अप+√नुद् (दूर करना), लिङ्, प्र०पु०एक०। **असपत्नम्**-नास्ति सपत्नः यस्मिन् तत् असपत्नम् (बहुव्रीहि)। **अवाप्य**-अव+√आप् (पाना)+ ल्यप्। **आधिपत्यम्**-अधिपति+ष्यञ्; प्रभुत्व, स्वामित्व, अधिकार।

Eng. Tran.—

I do not see what will drive away this sorrow which dries up my senses even if I should attain rich and unrivalled kingdom on earth or even the sovereignty of the gods. (8)

• • •

सञ्जय बोले–अनन्तर अर्जुन 'न लड़ूंगा' कहकर चुप हो गया।

सञ्जय उवाच–

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।।९।।

अन्वय और अर्थ–परन्तप=हे शत्रुओं को सन्तप्त करने वाले! (महाराज धृतराष्ट्र!), **गुडाकेशः**=सदा जागरूक रहने वाला अर्जुन, **हृषीकेशम्**=जितेन्द्रिय श्रीकृष्ण को, **एवम्**=इस प्रकार, **उक्त्वा**=कहकर (फिर), **'न योत्स्ये'**='मैं नहीं लडूँगा', **इति**=ऐसा, **गोविन्दम्**=गोविन्द को, **उक्त्वा**=कहकर, **तूष्णीम्**=चुप, **ह बभूव**=हो गया।

व्याख्या–युद्धभूमि में अर्जुन की भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति उक्तियों का वर्णन करते हुए सञ्जय धृतराष्ट्र से कहते हैं कि हे शत्रुओं को तपाने वाले, महाराज धृतराष्ट्र! इस प्रकार, अर्जुन ने अपने हितैषी मित्र श्रीकृष्ण को अपने हृदय के भावों का वर्णन किया और साथ ही उनके उत्तर को सुने बिना यह भी निर्णयपूर्वक बता दिया कि इस परिस्थिति में युद्ध करना उसके लिए सम्भव नहीं है। उसने अन्त में गोविन्द से कहा-'मैं नहीं लडूँगा' और चुप होकर रथ पर बैठ गया।

प्रस्तुत श्लोक में अर्जुन के लिए 'गुडाकेश' नाम का प्रयोग हुआ है। आचार्य शङ्कर ने इसकी दो तरह से व्याख्याएँ की हैं-गुडाका का ईश अर्थात् निद्रा का स्वामी। निद्रा का स्वामी होने से अर्जुन सदा जागरूक रहने वाले सिद्ध होते हैं। 'गुडा' अंगूठे और निकट की अंगुली को मिलाने से बनी गोलाकार मुद्रा का भी नाम है। जिसके केश इस तरह गोल, घुंघराले हो वह 'गुड़ाकेश' है। इस नाम से अर्जुन घुंघराले बालों वाले बताये गये हैं। श्रीकृष्ण को प्रदत्त नाम 'हृषीकेश' के भी दो अर्थ सम्भव हैं। 'हृषीक का ईश' अर्थात् इन्द्रियों का स्वामी; इन्द्रियों के स्वामी होने से भगवान् श्रीकृष्ण को जितेन्द्रिय बताया गया है। 'हृषी-केश' व्युत्पत्ति के अनुसार, इस नाम से श्रीकृष्ण के केशों को घना, काला, घुंघराला बतलाया गया है। 'हृषीकेश' नाम महाभारत से लेकर समस्त वैष्णव साहित्य तक श्रीकृष्ण के लिए बहुधा प्रयुक्त नामों में से एक है। प्रस्तुत प्रसंग में महाभारतकार ने बड़े ही रोचक ढंग से कहा है कि एक जागरूक ने एक जितेन्द्रिय से कहा। अथवा एक घुंघराले बालों वाले ने दूसरे घुंघराले बालों वाले से कहा। श्रीकृष्ण का अति प्रचलित नाम 'गोविन्द' भी यहाँ प्रस्तुत हुआ है।

टिप्पणी–हृषीकेशम्-हृषीकाणाम् ईशः, तम् हृषीकेशम् (षष्ठी तत्पुरुष)। **गुडाकेशः**-गुडाकायाः ईशः, गुडाकेशः (षष्ठी तत्पुरुष)। **परन्तप**-परान् तापयति इति। **योत्स्ये**-√युध् (लड़ना), लृट्, उ०पु० एक०। **उक्त्वा**-√वच् (कहना)+क्त्वा। **बभूव**-√भू (होना), लिट्०, प्र० पु० एक०।

Eng. Tran.—

Sañjaya said : Having thus addressed Hṛṣīkeṣa (Kṛṣṇa), the mighty Guḍākeśa (Arjuna) said to Govinda (Kṛṣṇa) "I will not fight" and became silent. (9)

• • •

तब विषादग्रस्त अर्जुन को भगवान् ने उत्तर दिया।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।।१०।।

अन्वय और अर्थ–भारत=हे भरतवंश में उत्पन्न धृतराष्ट्र!, **हृषीकेशः**=जितेन्द्रिय श्रीकृष्ण ने, **प्रहसन्**=हँसते हुए, **इव**=से, **उभयोः**=दोनों, **सेनयोः**=सेनाओं के, **मध्ये**=बीच में, **विषीदन्तम्**=विषाद करते हुए, **तम्**=उस (अर्जुन) को, **इदम्**=यह, **वचः**=बात, **उवाच**=कहीं।

व्याख्या–सञ्जय ने आगे कहा-हे भरतवंशीय धृतराष्ट्र! पाण्डवों और कौरवों की सेनाओं के बीचों बीच में अपने रथ पर बैठकर विषाद करते हुए अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण ने मानो व्यंग्य सा करते हुए आगे के प्रकरण में बताई गई बातें कहीं। भगवान् सदा प्रसन्न रहने वाले हैं, इसलिए वे प्रसन्नवदन लग रहे थे, अथवा अर्जुन की परस्पर विपरीत बातों को सुनकर उन्हें उसके ऊपर मन ही मन हंसी आ रही थी जो उसके मुखमण्डल पर झलक पड़ी। मित्र को दुःखी देखकर भी भगवान् दुःखी नहीं हुए। कारण स्पष्ट है कि वे तो उसके शोक को ही निराधार मान रहे हैं।

टिप्पणी–प्रहसन्-प्र+√हस् (हंसना), शतृ, पु०, प्र० एक०। **विषीदन्तम्**-वि+√सद्>सीद् (बैठना), शतृ, पु०, द्वि० एक०। **भारत**-शकुन्तला-पुत्र भरत के वंश में उत्पन्न जन भारत हैं। चन्द्रवंश की ही एक शाखा आगे चलकर भरत के नाम पर भारत कहलाई है।

शकुन्तलायां दुष्यन्ताद् भरतश्चापि जज्ञिवान्।
यस्य लोकेषु नाम्नेदं प्रथितं भारतं कुलम्।।

–महाभारत, आदिपर्व, 2/96

Eng. Tran.—

To him thus depressed in the midst of the two armies, O Bhārata (Dhṛtarāṣṭra), Hṛṣikeśa (Kṛṣṇa), smiling as it were, spoke this word. (10)

शाङ्करभाष्य

अत्र च–'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्' इत्यारभ्य 'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह' इति एतदन्तः प्राणिनां शोकमोहादिसंसारबीजभूतदोषोद्भव-कारणप्रदर्शनार्थत्वेन व्याख्येयो ग्रन्थः। तथा हि अर्जुनेन राज्यगुरुपुत्रमित्रसुहृत्स्वजनसम्बन्धिबान्धवेषु 'अहम्

एषां मम एते' इति एवं भ्रान्तिप्रत्ययनिमित्तस्नेहविच्छेदादिनिमित्तौ आत्मनः शोकमोहौ प्रदर्शितौ 'कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये' इत्यादिना। शोकमोहाभ्यां हि अभिभूतविवेकविज्ञानः स्वत एव क्षात्रधर्मे युद्धे प्रवृत्तः अपि तस्माद् युद्धाद् उपरराम। परधर्मं च भिक्षाजीवनादिकं कर्तुं प्रववृते। तथा च सर्वप्राणिनां शोकमोहादिदोषाविष्टचेतसां स्वभावत एव स्वधर्मपरित्यागः प्रतिषिद्धसेवा च स्यात्। स्वधर्मे प्रवृत्तानाम् अपि तेषां वाङ्मनः-कायादीनां प्रवृत्तिः फलाभिसन्धिपूर्विका एव साहङ्कारा च भवति। तत्र एवं सति धर्माधर्मोपचयाद् इष्टानिष्ट- जन्मसुखदुःखसम्प्राप्तिलक्षणः संसारः अनुपरतो भवति, इत्यतः संसारबीजभूतौ शोकमोहौ।

तयोः च सर्वकर्मसन्न्यासपूर्वकाद् आत्मज्ञानाद् न अन्यतो निवृत्तिः इति, तदुपदिदिक्षुः सर्वलोकानुग्रहार्थम् अर्जुनं निमित्तीकृत्य आह भगवान् वासुदेवः–'अशोच्यान्' इत्यादि। तत्र केचिद् आहुः, सर्वकर्मसन्न्यासपूर्वकाद् आत्मज्ञाननिष्ठामात्राद् एव केवलात् कैवल्यं न प्राप्यते एव, किं तर्हि अग्निहोत्रादिश्रौत-स्मार्तकर्मसहिताद् ज्ञानात् कैवल्यप्राप्तिः इति सर्वासु गीतासु निश्चितः अर्थ इति। ज्ञापकं च आहुः अस्य अर्थस्य–'अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि' 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्' इत्यादि।

हिंसादियुक्तत्वाद् वैदिकं कर्म अधर्माय इति इयम् अपि आशङ्का न कार्या। कथम्, क्षात्रं कर्म युद्धलक्षणं गुरुभ्रातृपुत्रादिहिंसालक्षणम् अत्यन्तक्रूरम् अपि स्वधर्मः इति कृत्वा न अधर्माय, तदकरणे च 'ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि' इति ब्रुवता यावज्जीवादिश्रुतिचोदितानां पश्वादिहिंसालक्षणानां च कर्मणां प्राग् एव न अधर्मत्वम् इति सुनिश्चितम् उक्तं भवति इति।

तद् असत्, ज्ञानकर्मनिष्ठयोः विभागवचनाद् बुद्धिद्वयाश्रययोः। 'अशोच्यान्' इत्यादिना भगवता यावत् 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' इति एतदन्तेन ग्रन्थेन यत् परमार्थात्मतत्त्वनिरूपणं कृतं तत् साङ्ख्यम्, तद्विषया बुद्धिः आत्मनो जन्मादिषड्विक्रियाभावाद् अकर्ता आत्मा इति प्रकरणार्थनिरूपणाद् या जायते सा साङ्ख्यबुद्धिः, सा येषां ज्ञानिनाम् उचिता भवति ते साङ्ख्याः। एतस्या बुद्धेः जन्मनः प्राग् आत्मनो देहादिव्यतिरिक्तत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यपेक्षो धर्माधर्मविवेकपूर्वको मोक्षसाधनानुष्ठाननिरूपणलक्षणो योगः, तद्विषया बुद्धिः योगबुद्धिः, सा येषां कर्मिणाम् उचिता भवति ते योगिनः।

तथा च भगवता विभक्ते द्वे बुद्धी निर्दिष्टे–'एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' इति। तयोः च साङ्ख्यबुद्ध्याश्रयां ज्ञानयोगेन निष्ठां साङ्ख्यानां विभक्तां वक्ष्यति–'पुरा वेदात्मना मया प्रोक्ता' इति। तथा च योगबुद्ध्याश्रयां कर्मयोगेन निष्ठां

विभक्तां वक्ष्यति–'कर्मयोगेन योगिनाम्' इति। एवं साङ्ख्यबुद्धिं योगबुद्धिं च आश्रित्य द्वे निष्ठे विभक्ते भगवता एव उक्ते ज्ञानकर्मणोः कर्तृत्वाकर्तृत्वैकत्वानेकत्वबुद्ध्याश्रययोः एकपुरुषाश्रयत्वासम्भवं पश्यता। यथा एतद् विभागवचनं तथैव दर्शितं शातपथीये ब्राह्मणे–'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तो ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति' (बृ० 4.4.22) इति। सर्वकर्मसन्न्यासं विधाय तच्छेषेण–'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः' (बृ० 4.4.22) इति। तत्र एव च–'प्राग्दारपरिग्रहात्पुरुष आत्मा प्राकृतो धर्मजिज्ञासोत्तरकालं लोकत्रयसाधनं पुत्रं द्विप्रकारं च वित्तं मानुषं दैवं च तत्र मानुषं वित्तं कर्मरूपं पितृलोकप्राप्तिसाधनं विद्यां च दैवं वित्तं देवलोकप्राप्तिसाधनं सोऽकामयत' (बृ० 1.4.17)।

इति अविद्याकामवत एव सर्वाणि कर्माणि श्रौतादीनि दर्शितानि। 'तेभ्यो व्युत्थाय प्रव्रजन्ति' (बृ० 4.4.22) इति व्युत्थानम् आत्मानम् एव लोकम् इच्छतः अकामस्य विहितम्। तद् एतद् विभागवचनम् अनुपपन्नं स्याद् यदि श्रौतकर्मज्ञानयोः समुच्चयः अभिप्रेतः स्याद् भगवतः। न च अर्जुनस्य प्रश्न उपपन्नो भवति। 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते' इत्यादिः। एकपुरुषानुष्ठेयत्वासम्भवं बुद्धिकर्मणोः भगवता पूर्वम् अनुक्तं कथम् अर्जुनः अश्रुतं बुद्धेः च कर्मणो ज्यायस्त्वं भगवति अध्यारोपयेद् मृषा एव 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिः' इति।

किं च यदि बुद्धिकर्मणोः सर्वेषां समुच्चय उक्तः स्याद् अर्जुनस्य अपि स उक्त एव इति; 'यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्' इति कथम् उभयोः उपदेशे सति अन्यतरविषयः एव प्रश्नः स्यात्। न हि पित्तप्रशमनार्थिनो वैद्येन मधुरं शीतं च भोक्तव्यम् इति उपदिष्टे तयोः अन्यतरत् पित्तप्रशमनकारणं ब्रूहि इति प्रश्नः सम्भवति।

अथ अर्जुनस्य भगवदुक्तवचनार्थविवेकानवधारणनिमित्तः प्रश्नः कल्पयेत्, तथापि भगवता प्रश्नानुरूपं प्रतिवचनं देयम्, मया बुद्धिकर्मणोः समुच्चय उक्तः किमर्थम् इत्थं एवं भ्रान्तः असि इति। न तु पुनः प्रतिवचनम् अननुरूपं पृष्टाद् अन्यद् एव द्वे निष्ठे मया पुरा प्रोक्ते इति वक्तुं युक्तम्।

न अपि स्मार्तेन एव कर्मणा बुद्धेः समुच्चये अभिप्रेते विभागवचनादि सर्वम् उपपन्नम्। किं च क्षत्रियस्य युद्धं स्मार्तं कर्म स्वधर्म इति जानतः 'तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि' इति उपालम्भः अनुपपन्नः। तस्माद् गीताशास्त्रे ईषन्मात्रेण अपि श्रौतेन स्मार्तेन वा कर्मणा आत्मज्ञानस्य समुच्चयो न केनचिद् दर्शयितुं शक्यः।

यस्य तु अज्ञानाद् रागादिदोषतो वा कर्मणि प्रवृत्तस्य यज्ञेन दानेन तपसा वा

विशुद्धसत्त्वस्य ज्ञानम् उत्पन्नं परमार्थतत्त्वविषयम् एकम् एव इदं सर्वं ब्रह्म अकर्तृ च इति। तस्य कर्मणि कर्मप्रयोजने च निवृत्ते अपि लोकसङ्ग्रहार्थं यत्नपूर्वं यथा प्रवृत्तः तथा एव कर्मणि प्रवृत्तस्य यत् प्रवृत्तिरूपं दृश्यते न तत् कर्म येन बुद्धेः समुच्चयः स्यात्। यथा भगवतो वासुदेवस्य क्षात्रकर्मचेष्टितं न ज्ञानेन समुच्चीयते पुरुषार्थसिद्धये तद्वत् फलाभिसन्ध्यहङ्काराभावस्य तुल्यत्वाद् विदुषः। तत्त्ववित् तु न अहं करोमि इति मन्यते न च तत्फलम् अभिसन्धत्ते। यथा च स्वर्गादिकामार्थिनः अग्निहोत्रादिकाम-साधनानुष्ठानाय आहिताग्नेः काम्ये एव अग्निहोत्रादौ प्रवृत्तस्य सामिकृते विनष्टे अपि कामे तद् एव अग्निहोत्रादि अनुतिष्ठतः अपि न तत्काम्यम् अग्निहोत्रादि भवति।

तथा च दर्शयति भगवान् 'कुर्वन्नपि' 'न करोति न लिप्यते' इति तत्र तत्र। यच्च 'पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्' 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इति तत् तु प्रविभज्य विज्ञेयम्। तत् कथम्? यदि तावत् पूर्वे जनकादयः तत्त्वविदः अपि प्रवृत्तकर्माणः स्युः ते लोकसङ्ग्रहार्थं 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' इति ज्ञानेन एव संसिद्धिम् आस्थिताः कर्मसन्न्यासे प्राप्ते अपि कर्मणा सह एव संसिद्धिम् आस्थिता न कर्मसन्न्यासं कृतवन्त इति एषः अर्थः। अथ न ते तत्त्वविदः, ईश्वरसमर्पितेन कर्मणा साधनभूतेन संसिद्धिं सत्त्वशुद्धिं ज्ञानोत्पत्तिलक्षणां वा संसिद्धिम् आस्थिता जनकादयः इति व्याख्येयम्। एतम् एव अर्थं वक्ष्यति भगवान् 'सत्त्वशुद्धये कर्म कुर्वन्ति' इति। 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इति उक्त्वा सिद्धिं प्राप्तस्य च पुनः ज्ञाननिष्ठां वक्ष्यति 'सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म' इत्यादिना। तस्मात् गीतासु केवलाद् एव तत्त्वज्ञानाद् मोक्षप्राप्तिः न कर्मसमुच्चिताद् इति निश्चितः अर्थः। यथा च अयम् अर्थः तथा प्रकरणशो विभज्य तत्र तत्र दर्शयिष्यामः।

विशेष

आचार्य शङ्कर ने गीता के द्वितीय अध्याय के ग्यारहवें श्लोक से गीता का भाष्य प्रारम्भ किया है। इससे पूर्व उन्होंने उपोद्घात में अपने सिद्धान्तों के संक्षिप्त विवरण के अतिरिक्त श्रीकृष्ण के अवतार के उद्देश्य, अर्जुन को उपदेश का औचित्य, उपदेश की पृष्ठभूमि और प्रकरण की सङ्गति आदि कई महत्त्वपूर्ण विषयों का विवेचन प्रस्तुत किया है।

शङ्कराचार्य के मत के अनुसार गीता का प्रथम अध्याय और दूसरे अध्याय के प्रारंभिक दस श्लोक गीता की पृष्ठभूमि हैं। प्रथम अध्याय के दूसरे श्लोक 'पाण्डवों की सेना को देखकर' से लेकर द्वितीय अध्याय के नवें श्लोक 'मैं नहीं लड़ूँगा-ऐसा श्रीकृष्ण को कहकर अर्जुन चुप हो गया'-तक के अंश में यह दिखलाया गया है कि प्राणियों में इष्टनाश की चिन्ता (शोक) और उचित-अनुचित की पहचान न कर पाना

(मोह) क्यों उत्पन्न हो जाते हैं। अर्जुन ने न केवल अपना शोक और मोह प्रकट किया बल्कि अपने धर्म 'युद्ध' से हटकर अन्य के धर्म भिक्षावृत्ति को अपनाने की बात भी की। भगवान् ने सोचा कि यदि अर्जुन को न रोका गया तो जब जब लोग शोक और मोह की वृत्ति वाले होंगे, अपने कर्तव्यों को छोड़कर निषिद्ध कर्मों में प्रवृत्त हो जाएंगे और यदि अपने कर्मों में लगे भी रहे, तब भी अहंकारसहित, फल की इच्छा के साथ ही उनकी कर्मों में प्रवृत्ति होगी- ऐसी स्थिति में पुण्य-पाप दोनों बढ़ते रहने के कारण अच्छे-बुरे जन्म और सुख-दुःख की प्राप्ति रूप यह संसार अनिवृत्त ही रहता है। इसलिए शोक और मोह संसार के बीज के समान हैं। इस दोनों की निवृत्ति सर्वकर्म-संन्यास पूर्वक आत्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से नहीं हो सकती। इसलिए सब पर कृपा करने के लिए भगवान् ने अर्जुन को निमित्त बनाकर 'अशोच्यान्' (गीता 2/11) से उसको उपदेश देना प्रारम्भ किया।

मोक्ष की प्राप्ति कर्मों का त्याग करके केवल ज्ञान से होती है और गीता में यही सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है, जबकि कई प्राचीन भाष्यकार इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं और मानते हैं कि गीता के आधार पर यह निश्चित होता है कि मोक्षप्राप्ति केवल आत्मज्ञान से नहीं, अपितु शास्त्रविहित नित्यनैमित्तिक कर्मों को करते हुए आत्मज्ञान से होती है। परन्तु गीता के आधार पर ज्ञानकर्मसमुच्चय का खण्डन किया जा सकता है। इसके लिए सात युक्तियां प्रस्तुत हैं। (1) गीता में भगवान् ने दो प्रकार की निष्ठाओं का अलग-अलग प्रतिपादन किया है- ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा, (गीता 2.39)। दोनों का स्वरूप, अधिकारी और फल परस्पर विरुद्ध बताये गये हैं। (2) अर्जुन का कथन-अगर तुम (ज्ञान को) कर्म से अच्छा समझतें हो (गीता 3.1)-तभी उचित है जब भगवान् ने उसे ज्ञान और कर्म मार्गों की पृथक्ता बतलाई हो। (3) अर्जुन ने पाँचवे अध्याय के प्रारम्भ में भगवान् से पूछा कि 'आप मुझे कर्मों को छोड़ने की और फिर उन्हें ईश्वरार्पण बुद्धि से निष्काम होकर करने की बात कह रहे हैं। इनमें से जो एक कल्याणकारी मार्ग हो वह मुझे बतायें। (गीता 5.1)। यदि भगवान् ने कर्म करते हुए ही ज्ञान से मोक्षप्राप्ति बताई होती तो अर्जुन यह प्रश्न नहीं करता। (4) यदि अर्जुन ने भगवान् की बात को ठीक से न समझ पाने के कारण यह प्रश्न किया-ऐसा माना जाये तो फिर भगवान् को अपना उत्तर प्रश्न के अनुरूप ही देना चाहिए था। (5) यदि कोई कहे कि 'स्मृतियों में प्रतिपादित कर्मों के साथ ज्ञान का समुच्चय भगवान् को अभिप्रेत है', तो अर्जुन यह उलाहना नहीं देता कि 'तब तुम मुझे इस क्रूर कर्म में क्यों लगा रहे हो?' (गीता 3.1)। यह उलाहना तभी उचित है जब

गीता में स्मार्त कर्म करते हुए ज्ञान का अनुसरण करना न बतलाया गया हो। (6) गीता (3.25) में कहा गया है कि अज्ञानी जिस प्रकार आसक्त होकर कर्म को करते हैं, वैसे ही ज्ञानी आसक्तिरहित होकर लोकसंग्रह के लिए कर्मों को करता है-इससे ज्ञानकर्मसमुच्चय का प्रतिपादन प्रतीत होता है। पर यह उचित नहीं है। लोकसंग्रह के लिए किये जा रहे कर्म बन्धनकारक नहीं होते हैं, क्योंकि उनको करते हुए ज्ञानी न अपने को कर्ता मानता है और न उनके फल में ही लिप्त होता है, अतः इस प्रकार के कर्मों के साथ ज्ञान का समुच्चय मोक्षकारक है–ऐसा गीता का आशय नहीं है। (7) जनक आदि तत्त्वज्ञानी होते हुए भी कर्मों में इसलिए लगे रहे क्योंकि वे उनको लोकसंग्रह के लिए कर रहे थे। इस प्रकार सात युक्तियों द्वारा भर्तृप्रपञ्च आदि प्राचीन टीकाकारों के ज्ञानकर्मसमन्वयवाद का खण्डन करके यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि गीता का तात्पर्य यही बताना है कि मोक्ष केवल ज्ञान से ही मिलता है।

• • •

श्रीभगवान् ने कहा–आत्मज्ञानी शोक नहीं करते।

श्रीभगवानुवाच–

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।। ११।।

अन्वय और अर्थ–**त्वम्**=तुम, **अशोच्यान्**=जिनके विषय में शोक नहीं करना चाहिए, **अन्वशोचः**=(उनका) शोक करते हो; **च**=और, **प्रज्ञावादान्**=पण्डितों जैसी बातें, **भाषसे**=बोलते हो। **पण्डिताः**=बुद्धिमान् लोग, **गतासून्**=मरे हुओं का, **च**=और, **अगतासून्**=जीवितों का, **न अनुशोचन्ति**=शोक नहीं करते हैं।

व्याख्या–द्वितीय अध्याय के प्रस्तुत श्लोक से भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के लिए उपदेश देना प्रारम्भ किया। अर्जुन ने अपने कथन में मुख्य रूप से दो बातें कही थी (1) युद्ध में स्वजनों को मारकर मुझे सुख कैसे मिल सकता है। (2) कुल का क्षय बहुत दोषपूर्ण स्थिति को उत्पन्न कर देगा। स्वजनों की हत्या की चिन्ता के कारण उसमें शोक है जो उसे युद्ध करने से रोक रहा है। कुलक्षय के दोष का विचार करने से उसमें मोह है जो उसे युद्ध में प्रवृत्त होने से रोक रहा है। ये शोक और मोह ही वस्तुतः उसके कर्तव्य के बाधक विकार हैं। भगवान् ने उसकी इन दोनों दुर्बलताओं पर सबसे पहले व्यंग्यपूर्ण प्रहार किया है–हे अर्जुन! जिनके विषय में शोक नहीं करना चाहिए उनके विषय में तुम शोक कर रहे हो क्योंकि ये भीष्म, द्रोण आदि सदाचारी हैं और

तात्त्विक दृष्टि से नित्य हैं अतः उनकी मृत्यु शोचनीय नहीं है। दूसरी तरफ तुम समझदारों की सी बातें भी करते हो कि कुलक्षय से दोष उत्पन्न होंगे, स्वजनों की हत्या से पाप लगेगा। अतः तुम परस्परविरोधी मूर्खता और बुद्धिमत्ता को प्रदर्शित कर रहे हो-इसीलिए मुझे हंसी आती है। जो वस्तुतः बुद्धिमान् होते हैं वे न तो जीवित के लिए और न ही मृत के लिए शोक करते हैं। जो सच्चा विद्वान् होता है वह शरीर और आत्मा के स्वरूप को जानता है इसलिए वह किसी भी अवस्था में शोक नहीं करता है। आत्मा नित्य है और शरीर नश्वर। तुम बुद्धिमान् नहीं हो, पर बातें ऐसी करते हो जैसे बड़े विद्वान् हो। अज्ञानी होने के कारण ही तुम शोक के सर्वथा अयोग्य वस्तु के लिए शोक कर रहे हो। 'पण्डा' का अर्थ 'आत्मज्ञान' है इसलिए अत्यधिक पाण्डित्य को सम्पादित करने वाले व्यक्ति को 'पण्डित' कहा गया है।

इस प्रकार अपने मित्र पर मित्रवत् व्यंग्य करते हुए भगवान् ने गुरु की भाँति शिष्य अर्जुन को उपदेश देना प्रारम्भ किया। इस श्लोक में उनके प्रमुख उपदेश का सार है, अनन्तर उन्नीस श्लोकों (12-30) में उन्होंने 'मृत्यु शोचनीय नहीं है' इस बात की व्याख्या करते हुए आत्मज्ञान का उपदेश दिया।

टिप्पणी–अशोच्यान्-न शोच्यान् (नञ् तत्पुरुष)। **प्रज्ञावादान्**-प्रज्ञायाः वादान् प्रज्ञावादान् (षष्ठी तत्पुरुष)। **गतासून्**-गता असवः येषां तान् गतासून् (बहुव्रीहि)। **अगतासून्**-न गतासून्, अगतासून् (नञ् तत्पुरुष)। **अनुशोचन्ति**-अनु+√शुच् (शोक करना), लट्, प्र०पु०बहु०।

शाङ्करभाष्य–तत्र एवं धर्मसम्मूढचेतसो महति शोकसागरे निमग्नस्य अर्जुनस्य अन्यत्र आत्मज्ञानाद् उद्धरणम् अपश्यन् भगवान् वासुदेवः ततः अर्जुनम् उद्दिधारयिषुः आत्मज्ञानाय अवतारयन् आह-

न शोच्या अशोच्या भीष्मद्रोणादयः सद्वृत्तत्वात् परमार्थरूपेण च नित्यत्वात्, तान् अशोच्यान् अन्वशोचः अनुशोचितवान् असि ते म्रियन्ते मन्निमित्तम् अहं तैः विनाभूतः किं करिष्यामि राज्यसुखादिना इति। त्वं प्रज्ञावादान् प्रज्ञावतां बुद्धिमतां वादान् च वचनानि च भाषसे। तद् एतद् मौढ्यं पाण्डित्यं च विरुद्धम् आत्मनि दर्शयसि उन्मत्त इव इति अभिप्रायः। यस्माद् गतासून् गतप्राणान् मृतान् अगतासून् अगतप्राणान् जीवतः च न अनुशोचन्ति पण्डिताः आत्मज्ञाः। पण्डा आत्मविषया बुद्धिः येषां ते हि पण्डिताः 'पाण्डित्यं निर्विद्य' (बृ० 3.5.1) इति श्रुतेः।

परमार्थतः तु नित्यान् अशोच्यान् अनुशोचसि अतो मूढः असि इति अभिप्रायः।

Eng. Tran.—

The Blessed Lord said : Thou grievest for those whom thou shouldst not grieve for and yet thou speakest words about wisdom. Wise men do not grieve for the dead or for the living. (11)

• • •

सब लोक तत्त्वतः नित्य हैं।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।।१२।।

अन्वय और अर्थ–(इति) जातु=ऐसा पहले कभी, **न तु एव**=नहीं हुआ कि, **अहम्**=मैं, **न**=नहीं, **आसम्**=था, **त्वम्**=तुम, **न**=नहीं थे अथवा, **इमे**=ये, **जनाधिपाः**=राजा लोग, **न**=(कभी) नहीं थे। **न च एव**=और न ऐसा ही है कि, **सर्वे वयम्**=हम सब, **अतः परम्**=इसके बाद, **न**=नहीं, **भविष्यामः**=रहेंगे।

व्याख्या–अर्जुन के शोक को निराधार बताते हुए भगवान् श्रीकृष्ण सर्वप्रथम उसे आत्मज्ञान के अन्तर्गत आत्मा की नित्यता समझा रहे हैं। युद्धस्थल में उपस्थित सभी लोग नित्य हैं। जो तीनों कालों में रहता है वह नित्य तत्त्व है। आत्मा त्रिकालस्थायी है। वह वर्तमान में जिस शरीर में है वह शरीर भूत और भविष्य में नहीं होता है परन्तु आत्मा स्वयं भूत और भविष्य में रहता है। स्पष्ट करने के लिए 'मैं', 'तु' और 'हम सब' की बात की गयी है। अभी मैं हूँ परन्तु हे अर्जुन! मैं पहले नहीं था ऐसा नहीं है। मैं बाद में कभी नहीं रहूँगा- ऐसा भी नहीं है। इसी प्रकार तुम या ये राजा लोग अब से पहले नहीं थे ऐसा नहीं है और न ही यह कभी होगा कि तुम सब इसके बाद नहीं होंगे। सब अतीतकाल में थे, अब दीख रहे हैं और भविष्य में भी रहेंगे ही क्योंकि वास्तव में आत्मा नित्य और सदा रहने वाला है। आत्मा देह बदलता रहता है और देह नाशवान् है। आत्मा एक है परन्तु यहां शरीरों के भेद से उसका अनेक रूप में व्याख्यान किया गया है। अर्जुन अपनी भेददृष्टि से सोच रहा है इसलिए उसे आत्मा की एकता नहीं, अपितु नित्यता बतलाई जा रही है।

टिप्पणी–जातु-(अव्यय) सम्भवतः, कदाचित्। **जनाधिपाः**–जनानाम् अधिपाः जनाधिपाः (षष्ठी तत्पुरुष)। **आसम्**-√अस् (होना), लङ्, उ० पु०एक०। **भविष्यामः**-√भू (होना), लृट्, उ०पु० बहु०।

शाङ्करभाष्य—कुत: ते अशोच्या:? यतो नित्या:। कथम्—न तु एव जातु कदाचिद् अहं न आसं किन्तु आसम् एव, अतीतेषु देहोत्पत्तिविनाशेषु नित्यम् एव अहम् आसम् इति अभिप्राय:।

तथा न त्वं न आसी: किन्तु आसी: एव। तथा न इमे जनाधिपा: न आसन् किन्तु आसन् एव। तथा न च एव न भविष्याम:, किन्तु भविष्याम एव सर्वे वयम् अत: अस्माद् देहविनाशात् परम् उत्तरकाले अपि, त्रिषु अपि कालेषु नित्या आत्मस्वरूपेण इति अर्थ:। देहभेदानुवृत्त्या बहुवचनं न आत्मभेदाभिप्रायेण। (12)

Eng. Tran.—

Never was there a time when I was not, nor thou, nor these lords of men, nor will there ever be a time hereafter when we all shall cease to be. (12)

• • •

मृत्यु शरीर की अवस्था है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।।१३।।

अन्वय और अर्थ —**देहिन:**=देहधारी (जीवात्मा) के, **यथा**=जिस प्रकार, **अस्मिन्**=इस, **देहे**=देह में, **कौमारम्**=कुमारावस्था, **यौवनम्**=युवावस्था, **जरा**=(तथा) वृद्धावस्था (प्राप्त होती हैं); **तथा**=उसी प्रकार, **देहान्तरप्राप्ति:**=दूसरे शरीर की प्राप्ति (होती है); **तत्र**=इस विषय में, **धीर:**=धीर पुरुष, **न मुह्यति**=मोह को प्राप्त नहीं होता है।

व्याख्या—इस श्लोक में आत्मा की नित्यता का निरूपण किया गया है। पिछले श्लोक में बताया गया कि मनुष्य का शरीर नाशवान् है और आत्मा सदा रहने वाला है। अब बताया जा रहा है कि शरीर नष्ट होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता है। सब लोग तत्त्वत: नित्य हैं, इसलिए उनकी मृत्यु की चिन्ता के कारण होने वाला शोक अनुचित है।

मानव-शरीर की मुख्य रूप से तीन अवस्थाएँ हैं—बचपन, जवानी और बुढ़ापा। देह का स्वामी आत्मा देह की इन तीनों अवस्थाओं में एक सा रहता है। इन अवस्थाओं के बदलने पर शरीर में अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं किन्तु आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता। उसी प्रकार शरीर के दूसरी अवस्था में जाने पर जब पहली अवस्था का

नाश होता है तब भी आत्मा का नाश नहीं होता है। मृत्यु होने पर शरीर नष्ट हो जाता है। मृत्यु शरीर की ही होती है, आत्मा की नहीं। आत्मा कर्मानुसार दूसरे शरीर को प्राप्त करता है। अत: मृत्यु शरीर की अवस्था है। धीर अर्थात् धैर्यशील बुद्धिमान् पुरुष मृत्यु से विचलित नहीं होते हैं। जैसे बचपन से युवावस्था और युवावस्था से वृद्धावस्था में आने पर व्यक्ति भयभीत नहीं होता है उसी तरह मृत्यु अवस्था से भी भयभीत होने की कोई बात नहीं है। आत्मा के नित्य स्वरूप को जानकर शोकरहित होकर तुम्हें अपना कर्तव्य 'युद्ध' करना चाहिए-भगवान् का अर्जुन को यही उपदेश है।

टिप्पणी–देहिन:–देहा: सन्ति येषाम् ते देहिन:; देह + इन् (मत्वर्थीय)। **कौमारम्**–कुमारस्य भाव: कौमारम्। **मुह्यति**–√मुह् (मोह करना), लट्, प्र० पु० एक०। **देहान्तरप्राप्ति:**–देह + अन्तर + प्राप्ति:; देहान्तरस्य प्राप्ति: (षष्ठीतत्पुरुष)। **धीर:**–'धी' बुद्धिवाचक, अत: धीर 'बुद्धिमान्' है।

शाङ्करभाष्य–तत्र 'कथमिव नित्य आत्मा?' इति दृष्यन्तमाह–'देहिन:' इति। देहोऽस्यास्तीति देही, तस्य देहिनो देहवदात्मन:, अस्मिन् वर्तमाने देहे, यथा येन प्रकारेण, कौमारं कुमारभावो बाल्यावस्था, यौवनं यूनो भावो मध्यावस्था, जरा वयोहानिर् जीर्णावस्था–इत्येता: तिस्र: अवस्था अन्योन्यविलक्षणा:। तासां प्रथमावस्थानाशे न नाशो, द्वितीयावस्थोपजनने न उपजननम् आत्मन:। किं तर्हि अविक्रियस्यैव द्वितीयतृतीयावस्थाप्राप्ति: आत्मनो दृष्य। तथा तद्वदेव, देहादन्यो देहान्तरम्, तस्य प्राप्ति: देहान्तरप्राप्तिरविक्रियस्यैवात्मन इत्यर्थ:। धीरो धीमांस्तत्र एवं सति, न मुह्यति न मोहमापद्यते। (13)

Eng. Tran.—

As the soul passes in this body through childhood, youth and age, even so is its taking on of another body. The sage is not perplexed by this. (13)

• • •

सुख-दु:ख इन्द्रियों की देन हैं और अनित्य हैं।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदु:खदा:।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।। १४।।

अन्वय और अर्थ–कौन्तेय=हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन!, **मात्रास्पर्शा:**=इन्द्रियों के (विषयों से) संयोग, **तु**=तो, **शीत-उष्ण-सुख-दु:खदा:**=ठण्डा, गरम, सुख और

दु:ख देने वाले हैं, **आगमापायिन:**=ये आने और जाने वाले हैं, **अनित्या:**=(अत:) अनित्य हैं। **भारत**=हे भरत के कुल में उत्पन्न!, **तान्**=उनको, **तितिक्षस्व**=तुम सहो।

व्याख्या–आत्मा की नित्यता और शरीर की अनित्यता को बतलाते हुए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाया कि भीष्म, द्रोण आदि की मृत्यु का शोक अनुचित है क्योंकि आत्मा के रूप में वे नित्य हैं। 'आत्मा नित्य है' यह जानकर मृत्यु पर होने वाले शोक का प्रतिकार सम्भव है; परन्तु लोक में मनुष्य नित्यप्रति सुख-दु:ख का अनुभव करता है; उसके निराकरण के लिए क्या करना चाहिए। यहां पर भगवान् उसका प्रसङ्गवश विवेचन कर रहे हैं। मनुष्य के पास इन्द्रियजन्य ज्ञान के लिए पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं-आँख, नाक, कान, त्वचा और रसना। ये क्रमश: रूप, गन्ध, शब्द, स्पर्श और रस विषयों को ग्रहण करती रहती हैं। कोई इन्द्रिय जब भी अपने विषय से संयोग करती है तब शीत-उष्ण, मधुर-कटु, शुक्ल-कृष्ण आदि द्वन्द्वात्मक प्रतीतियाँ होती हैं। इस ज्ञान को वे बुद्धि में पहुचाती हैं, तब इनसे अनुकूलता और प्रतिकूलता के आधार पर क्रमश: व्यक्ति कभी सुख अनुभव करता है और कभी दु:ख। सुख और दु:ख होना तो निश्चित है। वास्तव में जो मन के अनुकूल होता है उससे मनुष्य सुखी होता है और जो मन के प्रतिकूल होता है, उससे वह दु:खी होता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि इन्द्रिय और उनके विषयों के संयोग से होने वाले ये सुख और दु:ख स्थायी नहीं हैं। इनका रूप बदलता रहता है। ये आते और जाते रहते हैं। इनका नित्य आत्मा से कोई सम्बन्ध भी नहीं है। अत: मनुष्य को बिना विचलित हुए इनको सह लेना चाहिए।

'मात्रा' इन्द्रिय को कहते हैं क्योंकि उनसे विषयों का ज्ञान होता है। 'मात्रा-स्पर्शा:' में 'स्पर्श' के दो अर्थ किये जा सकते हैं-1. संयोग, 2. विषय। तदनुसार 'मात्रास्पर्श' में दो समास हो सकते हैं-मात्राओं का शब्द आदि विषयों के साथ स्पर्श, अर्थात् संयोग (षष्ठी तत्पुरुष)। अथवा मात्राओं और उनके शब्द आदि विषय (द्वन्द्व समास)-ये सब कभी सुख, कभी दु:ख, कभी सर्दी, कभी गर्मी, देने वाले हैं।

यहां भगवान् ने अर्जुन को दो नामों से सम्बोधित किया है। 'कौन्तेय' से अर्जुन के मातृकुल की उत्तमता और 'भारत' से उनके पितृकुल की श्रेष्ठता का स्मरण यहां अभिप्रेत प्रतीत होता है। उत्तम वंश में उत्पन्न होने से अर्जुन को धीर और सहनशील होना चाहिए। शोक का आशय लेकर कर्तव्य कर्म से विमुखता सद्वंशोत्पन्न के लिए कदापि उचित नहीं है।

टिप्पणी–मात्रास्पर्शा:-मात्राणां स्पर्शा: (षष्ठी तत्पुरुष)। मीयन्ते शब्दादय: इति इन्द्रियाणि मात्रा:। स्पृश्यन्ते इति विषया: स्पर्शा:। मात्राश्च स्पर्शा: च इति मात्रा-

स्पर्शाः (द्वन्द्व)। **शीतोष्णसुखदुःखदाः**–शीतं च उष्णं च सुखं च दुःखं च शीतोष्णसुखदुःखानि तानि ददति इति ते। **आगमापायिनः**–आगमश्च अपायश्च आगमापायौ (द्वन्द्व), तौ एषां सन्ति इति आगमापायिनः। **अनित्याः**–न नित्याः अनित्याः (नञ् तत्पुरुष)। **तितिक्षस्व**-√तिज् (सहन करना), स्वार्थ में सन् प्रत्यय; आत्म०, लोट्, म० पु० एक०।

शाङ्करभाष्य–यद्यपि आत्मविनाशनिमित्तो मोहो न सम्भवति नित्य आत्मा इति विजानतः तथापि शीतोष्णसुखदुःखप्राप्तिनिमित्तो मोहो लौकिको दृश्यते, सुखवियोग-निमित्तो दुःखसंयोगनिमित्तः च शोक इति एतद् अर्जुनस्य वचनम् आशङ्क्य आह–

मात्रा आभिः मीयन्ते शब्दादय इति श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि, मात्राणां स्पर्शाः शब्दादिभिः संयोगाः ते शीतोष्णसुखदुःखदाः शीतम् उष्णं सुखं दुःखं च प्रयच्छन्ति इति। अथवा स्पृश्यन्ते इति स्पर्शा विषयाः शब्दादयः मात्राः च स्पर्शाः च शीतोष्णसुखदुःखदाः। शीतं कदाचित् सुखं कदाचित् दुःखं तथा उष्णम् अपि अनियतरूपं सुखदुःखे पुनः नियतरूपे यतो न व्यभिचरतः अतः ताभ्यां पृथक् शीतोष्णयोः ग्रहणम्। यस्मात् ते मात्रास्पर्शादय आगमापायिन आगमापायशीलाः तस्माद् अनित्या अतः तान् शीतोष्णादीन् तितिक्षस्व प्रसहस्व तेषु हर्षं विषादं च मा कार्षीः इत्यर्थः। (14)

Eng. Tran.—

Contacts with their objects, O Son of Kuntī (Arjuna), give rise to cold and heat, pleasure and pain. They come and go and do not last for ever, these learn to endure, O Bhārata (Arjuna). (14)

• • •

सुख-दुःख सहने का लाभ है–अमरता।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।। १५।।

अन्वय और अर्थ–**पुरुषर्षभ**=हे पुरुषश्रेष्ठ!, **हि** = निश्चय ही, **समदुःख-सुखम्**=दुःख और सुख को समान समझने वाले, **यम्**=जिस, **धीरम्**=बुद्धिमान्, **पुरुषम्**=पुरुष को, **एते**=ये (विषयों से इन्द्रियों के संयोग), **न व्यथयन्ति** = विचलित नहीं करते हैं, **सः**=वह, **अमृतत्वाय**=मोक्ष के, **कल्पते**=योग्य होता है।

व्याख्या–प्रस्तुत श्लोक में भगवान् अर्जुन को सुख-दुःख सहने का लाभ बताते

हुए कहते हैं – हे पुरुषों में श्रेष्ठ अर्जुन! जो बुद्धिमान् मनुष्य इस बात को समझ जाता है और साथ ही सांसारिक सुख-दुःख से विचलित नहीं होता है अर्थात् सुख पाकर प्रसन्नता से और दुःख पाकर विषाद से व्यथित न होकर दोनों में समान रहता हुआ अपने स्वभाव में स्थिर रहता है, वह धीरे-धीरे मोक्ष-प्राप्ति के योग्य हो जाता है। सांसारिक इन्द्रियजन्य सुख-दुःख सहने का लाभ अमृतत्व की प्राप्ति है। आचार्य शङ्कर के अनुसार यहाँ अमरता से मोक्ष का अभिप्राय है। यही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। नित्य और अनित्य के स्वरूप को समझने और परस्पर विरोधी द्वन्द्वों को सहने वाला मनुष्य ही मोक्ष पाने के सामर्थ्य को प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से सांसारिक सुखों और दुःखों के प्रति समता की भावना का विकास करना व्यक्ति के उत्कर्ष के लिए एक महत्वपूर्ण चरण है।

टिप्पणी–व्यथयन्ति–√व्यथ् (दुःखी होना) + णिच्, लट्, प्र० पु० बहु०। **समदुःखसुखम्**–दुःखं च सुखं च दुःखसुखे (द्वन्द्व); समे दुःखसुखे यस्य तम् समदुःखसुखम् (बहुव्रीहि)। **पुरुषर्षभ**–पुरुषेषु ऋषभः। अर्जुन में स्वाभिमान जगाने के लिए भगवान् ने उसे यह सम्बोधन दिया है कि तुम पुरुषों में श्रेष्ठ हो, इसलिए तुम सांसारिक सुख-दुःख से विचलित होने के कदापि योग्य नहीं हो।

शाङ्करभाष्य–शीतोष्णादीन्सहतः किं स्यादिति शृणु–यं हि पुरुषं समदुःखसुखं समे दुःखसुखे यस्य, तं समदुःखसुखं सुखदुःखप्राप्तौ, हर्षविषादरहितं, धीरं धीमन्तं, न व्यथयन्ति न चालयन्ति नित्यात्मदर्शनाद् एते यथोक्ताः शीतोष्णादयः। स नित्यानित्य-स्वरूपदर्शननिष्ठो, द्वन्द्वसहिष्णुः अमृतत्वाय अमृतभावाय मोक्षाय कल्पते समर्थो भवति। (15)

Eng. Tran.—

The man who is not troubled by these, O Chief of men (Arjuna), who remains the same in pain and pleasure, who is wise makes himself fit for eternal life. (15)

• • •

असत् की सत्ता नहीं, सत् का अभाव नहीं।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।। १६।।

अन्वय और अर्थ–**असतः**=असत् का, **भावः**=चिरस्थायित्व, **न**=कभी नहीं, **विद्यते**=है, (च) **सतः**=और सत् का, **अभावः**=परिवर्तनशील गुण, **न**=कभी नहीं,

विद्यते=है। **अनयोः**=इन, **उभयोः**=दोनों का, **अपि**=ही, **अन्तः**=वास्तविक स्वरूप, **तु**=निस्सन्देह, **तत्त्वदर्शिभिः**=तत्त्वदर्शी विद्वानों द्वारा, **दृष्टः**=देखा गया है।

व्याख्या–शोक और मोह न करके शीत, उष्ण आदि द्वन्द्व सहना इस कारण भी उचित है क्योंकि अस्तित्वरहित 'असत्' की सत्ता नहीं है। संसार के सब पदार्थ विकार हैं। विकार बदलते रहते हैं। जैसे घट आदि वर्तमान में उपलब्ध होते हैं किन्तु उत्पत्ति से पहले और नाश के बाद उपलब्ध नहीं होते हैं। इसलिए ये सब वस्तुतः असत् अर्थात् अस्तित्वरहित ही हैं। असत् चिरस्थायी नहीं होता है। इसी प्रकार परिवर्तनशील शरीर का कोई स्थायित्व नहीं है, वह विकारी है। इसके विपरीत जिसका स्वरूप बदलता नहीं वह 'सत्' है। सत् में कभी भी परिवर्तनशील गुण नहीं होगा, इसलिए कहा गया है कि ऐसा कभी नहीं होगा कि उसकी सत्ता न हो, उसका 'अभाव' हो। शरीर के निरन्तर परिवर्तनशील होने पर भी आत्मा स्थायी रहता है। इसलिए प्रस्तुत सन्दर्भ में शरीर असत् है और आत्मा सत् है। स्वभावतः शरीर परिवर्तनशील है और आत्मा स्थायी। शरीर असत् है आत्मा सत्। अतः शरीर कभी भी सदा रहेगा ऐसा नहीं है और आत्मा कभी भी नहीं रहेगा–ऐसा नहीं है।

तात्पर्य है कि अस्तित्वरहित शरीर आदि का और अपने कारणों सहित शीत, उष्ण, सुख-दुःख आदि परस्पर विरोधी द्वन्द्वों का अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार अस्तित्ववान् आत्मा का अभाव नहीं है। अस्तित्ववान् आत्मा और अस्तित्वरहित आत्मेतर पदार्थों के विषय में यह निष्कर्ष कि सत् सत् ही है और असत् असत् ही है–तत्त्वदर्शी विद्वानों ने अपनी प्रतिभा से निकाला है। ब्रह्म को 'तद्' (वह) कहते हैं क्योंकि वास्तविक अस्तित्व उसी का है। उसका यह स्वरूप ही तद्+त्व-तत्त्व है। उसका प्रत्यक्ष करने वाले अर्थात् आत्मा के स्वरूप को जानने वाले तत्त्वदर्शी कहलाते हैं। वे ही सत् और उससे पृथक् असत् के स्वरूप को भली-भांति जानने वाले हैं। भगवान् का आशय है कि तत्त्वदर्शी विद्वानों की तरह अर्जुन को भी सत् और असत् के वास्तविक स्वरूप को समझना चाहिए और दुःख-सुख आदि द्वन्द्वों को मिथ्या समझकर उनको सहते हुए उनकी उपेक्षा करनी चाहिए।

आचार्य शङ्कर ने सत् और असत् के विषय में एक के बाद एक पाँच प्रश्न और उनके समाधान प्रस्तुत कर इस श्लोक की विस्तृत व्याख्या की है। अन्ततः सिद्ध किया है कि शरीर, इन्द्रिय, शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि और उनके उपादान कारण सबके सब वस्तुतः असत् हैं, इनकी सत्ता नहीं है, इसलिए इनको लेकर शोक करना सर्वथा अनुचित है।

टिप्पणी–असतः-न सतः असतः (नञ् तत्पुरुष)। **अभावः**-न भावः अभावः

(नञ् तत्पुरुष)। **विद्यते**-√विद्(होना), लट्, प्र० पु० एक०। **तत्वदर्शिभि:**-तत्त्वं पश्यन्तीति तत्त्वदर्शी, तै० तत्त्वदर्शिभि:(उप० तत्पुरुष)। **दृष्ट:**-√दृश् (देखना) +क्त।

शाङ्करभाष्य– इत: च शोकमोहौ अकृत्वा शीतोष्णादिसहनं युक्तं यस्मात्–नासत: अविद्यमानस्य शीतोष्णादे: सकारणस्य न विद्यते नास्ति भावो भवनम् अस्तिता। न हि शीतोष्णादि सकारणं प्रमाणै: निरूप्यमाणं वस्तु सम्भवति।

विकारो हि स:। विकार: च व्यभिचरति, यथा घटादिसंस्थानं चक्षुषा निरूप्यमाणं मृद्व्यतिरेकेण अनुपलब्धे: असत् तथा सर्वो विकार: कारणव्यतिरेकेण अनुपलब्धे: असन्। जन्मप्रध्वंसाभ्यां प्राग् ऊर्ध्वं च अनुपलब्धे:। मृदादिकारणस्य तत्कारणस्य च तत्कारणव्यतिरेकेण अनुपलब्धे: असत्त्वम्। तदसत्त्वे च सर्वाभावप्रसङ्ग इति चेत्।

न, सर्वत्र बुद्धिद्वयोपलब्धे: सद्बुद्धि: असद्-बुद्धि: इति। यद्विषया बुद्धि: न व्यभिचरति तत् सत्, यद्विषया बुद्धि: व्यभिचरति तद् असद् इति सदसद्विभागे बुद्धितन्त्रे स्थिते।

सर्वत्र द्वे बुद्धी सर्वै: उपलभ्यते समानाधिकरणे। न नीलोत्पलवत् सन् घट: सन् पट: सन् हस्ती इति एवं सर्वत्र। तयो: बुद्ध्यो: घटादिबुद्धि: व्यभिचरति, तथा च दर्शितम्। न तु सद्बुद्धि:। तस्माद् घटादिबुद्धिविषय: असन् व्यभिचारात्, न तु सद्बुद्धिविषय: अव्यभिचारात्। घटे विनष्टे घटबुद्धौ व्यभिचरन्त्यां सद्बुद्धि: अपि व्यभिचरति इति चेत्। न, पटादौ अपि सद्बुद्धिदर्शनात्। विशेषणविषया एव सा सद्बुद्धि:। सद्बुद्धिवद् घटबुद्धि: अपि घटान्तरे दृश्यते इति चेत्। न, पटादौ अदर्शनात्। सद्बुद्धिरपि नष्टे घटे न दृश्यते इति चेत्। न, विशेष्याभावात्। सद्बुद्धि: विशेषणविषया सती विशेष्याभावे विशेषणानुपपत्तौ किं विषया स्यात्, न तु पुन: सद्बुद्धे: विषयाभावात्। एकाधिकरणं घटादिविशेष्याभावे न युक्तम् इति चेत्। न; इदम् उदकम् इति मरीच्यादौ अन्यतराभावे अपि सामानाधिकरण्यदर्शनात्। तस्माद् देहादे: द्वन्द्वस्य च सकारणस्य असतो न विद्यते भाव इति। तथा सत: च आत्मन: अभाव: अविद्यमानता न विद्यते सर्वत्र अव्यभिचाराद् इति अवोचाम।

एवम् आत्मानात्मनो: सदसतो: उभयो: अपि दृष्ट उपलब्ध: अन्तो निर्णय: सत् सद् एव असद् असद् एव इति तु अनयो: यथोक्तयो: तत्त्वदर्शिभि:। तद् इति सर्वनाम सर्वं च ब्रह्म तस्य नाम तद् इति तद्भाव: तत्त्वं ब्रह्मणो याथात्म्यं तद् द्रष्टुं शीलं येषां ते तत्त्वदर्शिन: तै: तत्त्वदर्शिभि:। त्वम् अपि तत्त्वदर्शिनां दृष्टिम् आश्रित्य शोकं मोहं च हित्वा शीतोष्णादीनि नियतानियतरूपाणि द्वन्द्वानि विकार: अयम् असन् एव मरीचिजलवत् मिथ्या अवभासते इति मनसि निश्चित्य तितिक्षस्व इति अभिप्राय:। (16)

Eng. Tran.—

Of the non-existent there is no coming to be; of the existent there is no ceasing to be. The conclusion about these two has been perceived by the seers of truth. (16)

• • •

सत् अविनाशी, अव्यय और सर्वव्यापक है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।। १७।।

अन्वय और अर्थ–येन=जिससे, **इदम्**=यह, **सर्वम्**=सब, **ततम्**=व्याप्त है, **तत्**= उसको, **तु**=तो, **अविनाशि**=(तुम) नाशरहित, **विद्धि**=जानो। **अस्य**=इस, **अव्ययस्य**= अविनाशी (आत्मा) का, **विनाशम्**=नाश, **कर्तुम्**=करने में, **कश्चित्**=कोई भी, **न अर्हति**=समर्थ नहीं है।

व्याख्या–सत्-स्वरूप आत्मा की व्यापकता, नित्यता और अविकारिता का प्रतिपादन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण यहां कहते हैं कि हे अर्जुन! जो सत् है उसे तुम अविनाशी समझो। जिस प्रकार आकाश घट घट में व्याप्त होता है उसी प्रकार सत् से यह सारा संसार व्याप्त है। वह तत्त्व स्वभाव से नाशशील नहीं है इसीलिए अविनाशी है। वह विकारावस्था को प्राप्त नहीं करता है इसलिए अव्यय है। विकार छह प्रकार के होते हैं–जन्म, अस्तित्व, विपरिणाम, वृद्धि, ह्रास और क्षय।[1] जितने भी पदार्थ उत्पन्न होने से कार्य कहलाते हैं वे सब इन विकारों को प्राप्त करते हैं। पर परम कारण आत्मा या ब्रह्म इन विकारों से परे होने के कारण अविकारी ही रहता है। अवस्था-भेद से रहित इस ब्रह्म की सत्ता का नाश कोई नहीं कर सकता है। शङ्कराचार्य ने लिखा है–कोई समर्थ भी स्वयं को नष्ट नहीं कर सकता है क्योंकि 'आपा' आत्मा ही ब्रह्म है और अपने आपे (आत्मा) में कोई क्रिया नहीं होती।

टिप्पणी–अविनाशि–न विनाशि अविनाशि (नञ् तत्पुरुष)। **विद्धि**-√विद् (जानना), लोट्, म०पु०एक०। **अव्ययस्य**–व्येति इति व्ययम्, न व्ययम् अव्ययम् (नञ् तत्पुरुष)। **कर्तुम्**-√कृ (करना)+तुमुन्। **अर्हति**-√अर्ह् (किसी के योग्य होना), लट्, प्र०पु०एक०। **ततम्**-√तन् (फैलना)+क्त।

---

१. षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः-जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यतीति। निरुक्तम् 1.2

शाङ्करभाष्य—किं पुन: तद् यत् सद् एव सर्वदा एव अस्ति इति उच्यते—अविनाशि च विनष्टुं शीलम् अस्य इति। तु शब्द: असतो विशेषणार्थ:। तद् विद्धि विजानीहि। किं येन सर्वं इदं जगत् ततं व्याप्तं सदाख्येन ब्रह्मणा साकाशम् आकाशेन इव घटादय:। विनाशम् अदर्शनम् अभावम् अव्ययस्य न व्येति, उपचयापचयौ न याति इति अव्ययं तस्य अव्ययस्य। न एतत् सदाख्यं ब्रह्म स्वेन रूपेण व्येति व्यभिचरति निरवयवत्वाद् देहादिवत्। न अपि आत्मीयेन आत्मीयाभावात्, यथा देवदत्तो धनहान्या व्येति न तु एवं ब्रह्म व्येति। अत: अव्ययस्य अस्य ब्रह्मणो विनाशं च कश्चित् कर्तुम् अर्हति न कश्चिद् आत्मानं विनाशयितुं शक्नोति ईश्वर: अपि। आत्मा हि ब्रह्म स्वात्मनि च क्रियाविरोधात्। (17)

Eng. Tran.—

Know thou thath by which all this is pervaded is indestructible. Of this immutable being, no one can bring about the destruction. (17)

• • •

नित्य आत्मा के ये देह नाशवान् हैं।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता: शरीरिण:।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।। १८।।

अन्वय और अर्थ—भारत=हे भरतवंशी अर्जुन!, **नित्यस्य**=नित्यस्वरूप, **अनाशिन:**=कभी नाश न होने वाले, **अप्रमेयस्य**=प्रमाणों से अगम्य, **शरीरिण:**=शरीर के स्वामी आत्मा के, **इमे**=ये, **देहा:**=(विविध योनियों में उपलब्ध) शरीर, **अन्तवन्त:**=नाशवान्, **उक्ता:**=कहे जाते हैं, **तस्मात्**=(इसलिए), **युध्यस्व**=(तुम) युद्ध करो।

व्याख्या—कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन ने देह की मृत्यु को ही स्वजनों की मृत्यु समझकर शोक से अभिभूत होकर अपना कर्तव्य छोड़ने का निश्चय किया। तब भगवान् श्रीकृष्ण ने उसके शोक को दूर करने के लिए उसे शरीर के स्वामी आत्मा के स्वरूप का ज्ञान उपदेश के रूप में दिया। उसके अन्तर्गत यहां वे समझा रहे हैं कि शरीर नाशवान् है और आत्मा अविनाशी।

भौतिक शरीर स्वभाव से नाशवान् है। वह कभी भी सदा रहने वाला नहीं है। वह वास्तविक नहीं है, आभास मात्र है, नश्वर है। शरीर का अधिष्ठाता आत्मा अनश्वर और चेतन तत्त्व है, वह सार्वकालिक और अविनाशी है। वह निरपेक्ष रूप से नित्य

और विकार रहित है। जितने भी प्रकार के नाश संसार में सम्भव हैं वे उसमें नहीं होते हैं। इसीलिए भगवान् ने उसे 'नित्य' और 'अनाशी' कहा है। आत्मा 'अप्रमेय' है क्योंकि वह आँख, कान, नाक आदि सभी जागतिक ज्ञान-साधनों से वेद्य नहीं है। प्रत्यक्ष से भिन्न अनुमान आदि अन्य प्रमाणों से भी उसे जाना नहीं जा सकता है। शब्द-प्रमाण उसके ज्ञान में किञ्चित् सहायक है इसलिए कह सकते हैं कि आत्मा के ज्ञान के लिए शास्त्र कुछ अंश तक प्रमाण हैं।

भगवान् अर्जुन को समझाते हैं कि हे भरतवंशी अर्जुन! आत्मा के अविनाशी और शरीर के विनाशी स्वरूप को समझकर तुम्हें अपना शोक छोड़ देना चाहिए और अपने धर्मानुकूल कर्तव्य कर्म 'युद्ध' को करना चाहिए।

टिप्पणी–अन्तवन्तः- अन्त+मत् (वत्)। **अनाशिनः**-न नाशिनः (नञ् तत्पुरुष)। **अप्रमेयस्य**-न प्रमेयस्य (नञ् तत्पुरुष)। **शरीरिणः**-शरीराणि सन्ति एषामिति ते शरीरिणः, (शरीर+इन (मत्वर्थीय)। **युध्यस्व**-√युध् (युद्ध करना), लोट्, म०पु०एक०। **उक्ताः**-√वच् (कहना)+ क्त, बहुवचन।

शाङ्करभाष्य–किं पुनः तद् असद् यत् स्वात्मसत्तां व्यभिचरति इति उच्यते–

अन्तवन्तः अन्तो विनाशो विद्यते येषां ते अन्तवन्तो यथा मृगतृष्णिकादौ सद्बुद्धिः अनुवृत्ता प्रमाणनिरूपणान्ते विच्छिद्यते स तस्या अन्तः तथा इमे देहाः स्वप्नमायादेहादिवत् च अन्तवन्तः। नित्यस्य शरीरिणः शरीरवतः अनाशिनः अप्रमेयस्य आत्मनः अन्तवन्तः इति उक्ता विवेकिभिः इत्यर्थः। नित्यस्य अनाशिन इति न पुनरुक्तं नित्यत्वस्य द्विविधत्वात् लोके नाशस्य च। यथा देहो भस्मीभूतः अदर्शनं गतो नष्ट उच्यते विद्यमानः अपि अन्यथा परिणतो व्याध्यादियुक्तो जातो नष्ट उच्यते। तत्र अनाशिनो नित्यस्य इति द्विविधेन अपि नाशेन असम्बन्धः अस्य इत्यर्थः। अन्यथा पृथिव्यादिवद् अपि नित्यत्वं स्याद् आत्मनः तद् मा भूद् इति नित्यस्य अनाशिन इति आह। अप्रमेयस्य न प्रमेयस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणैः अपरिच्छेद्यस्य इत्यर्थः। ननु आगमेन आत्मा परिच्छिद्यते प्रत्यक्षादिना च पूर्वम्। न, आत्मनः स्वतःसिद्धत्वात्। सिद्धे हि आत्मनि प्रमातरि प्रमित्सोः प्रमाणान्वेषणा भवति। न हि पूर्वम् इत्थम् अहम् इति आत्मानम् अप्रमाय पश्चात् प्रमेयपरिच्छेदाय प्रवर्तते। न हि आत्मा नाम कस्यचिद् अप्रसिद्धो भवति।

शास्त्रं तु अन्त्यं प्रमाणम् अतद्धर्माध्यारोपणमात्रनिवर्तकत्वेन प्रमाणत्वम् आत्मनि प्रतिपद्यते न तु अज्ञातार्थज्ञापकत्वेन। तथा च श्रुतिः 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० 3.4.1) इति। यस्माद् एवं नित्यः अविक्रियः च आत्मा तस्माद् युध्यस्व युद्धाद् उपरमं मा कार्षीः इत्यर्थः। न हि अत्र युद्धकर्तव्यता विधीयते। युद्धे

प्रवृत्त एव हि असौ शोकमोहप्रतिबद्धः तूष्णीम् आस्ते तस्य कर्तव्यप्रतिबन्धापनयनमात्रं भगवता क्रियते। तस्मात् 'युध्यस्व' इति अनुवादमात्रं न विधिः। (18)

Eng. Tran.—

It is said that these bodies of the eternal embodied (soul) which is indestructible and in comprehensible come to an end. Therefore fight, O Bhārata (Arjuna). (18)

• • •

आत्मा क्रिया का कर्ता और कर्म नहीं है।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥१९॥

अन्वय और अर्थ–यः=जो, **एनम्**=इस (शरीरी) को, **हन्तारम्**=मारने वाला, **वेत्ति**=जानता है, **यः च**=और जो, **एनम्**=इसको, **हतम्**=मरा हुआ, **मन्यते**=मानता है, **तौ**=वे, **उभौ**=(एव) दोनों (ही), **न विजानीतः**=नहीं जानते हैं। **अयम्**=यह, **न**=न, **हन्ति**=मारता है, **न (च)**=और न, **हन्यते**=मारा जाता है।

व्याख्या–अर्जुन के शोक को निराधार बताते हुए श्रीकृष्ण पुनः कहते हैं-शरीर नाशवान् है और शरीर का अधिष्ठाता आत्मा अविनाशी है। जिसे मारा जाता है या जिसे मरा हुआ समझा जाता है वह केवल शरीर होता है। शरीर में विद्यमान रहने वाला आत्मा नित्य है। वह न मारना क्रिया का कर्ता बनता है और न कर्म। 'मैं मारने वाला हूँ' अथवा 'मैं मारा गया'–आत्मा के स्वरूप को न जानने वालों के द्वारा ही यह कहा जा सकता है; क्योंकि न आत्मा मारता है और न मारा जाता है। भगवान् का तात्पर्य अर्जुन को यह समझाना है कि तुम्हारा स्वयं को भीष्म, द्रोण आदि का 'हन्ता' मानना और उनको अपने द्वारा 'हत' समझना सर्वथा नासमझी है। सत् और असत् के वास्तविक स्वरूप को न पहचानने के कारण ही व्यक्ति आत्मा को हनन-क्रिया का कर्ता या कर्म समझकर दुःखी होता है। अर्जुन मोहवश भ्रान्त होकर अपने कर्तव्य से हट रहा है, उसको अपने सम्बन्धियों के शरीरों की चिन्ता न करते हुए युद्ध के लिए उद्यत होना चाहिए।

टिप्पणी–वेत्ति–√विद् (जानना), लङ्, प्र०पु०एक०। **हन्तारम्**–√हन् (मारना)+ तृच्, पुं०, द्वि०विभक्ति एक०। **मन्यते**–√मन् (मानना), लट्, प्र०पु०एक०। **हतम्**–√हन् (मारना)+ क्त। **विजानीतः**– वि+√ज्ञा (जानना), लट्, प्र०पु०द्वि०। **हन्ति**–√हन्

(मारना), लट्, प्र० पु० एक०। **हन्यते**-√हन् (मारना), लट् (कर्मवाच्य), प्र०पु० एक०।

शाङ्करभाष्य—शोकमोहादिसंसारकारणनिवृत्त्यर्थं गीताशास्त्रं न प्रवर्तकम् इति, एतस्य अर्थस्य साक्षिभूते ऋचौ आनिनाय भगवान्। यत् तु मन्यसे युद्धे भीष्मादयो मया हन्यन्ते अहम् एव तेषां हन्ता इति एषा बुद्धिः मृषा एव ते। कथम्—

य एनम् प्रकृतं देहिनं वेत्ति जानाति हन्तारं हननक्रियायाः कर्तारम्, य च एनम् अन्यो मन्यते हतं देहहननेन 'हतः अहम् इति' हननक्रियायाः कर्मभूतम्। तौ उभौ न विजानीतो न ज्ञातवन्तौ अविवेकेन आत्मानम् अहम्प्रत्ययविषयम्। 'हन्तां अहं हतः अस्मि अहम्' इति देहहननेन आत्मानं यौ विजानीतः तौ आत्मस्वरूपानभिज्ञौ इत्यर्थः। यस्माद् न अयम् आत्मा हन्ति न हननक्रियायाः कर्ता भवति, न हन्यते न च कर्म भवति इत्यर्थः अविक्रियत्वात्। (19)

Eng. Tran.—

He who thinks that this slays and he who thinks that this is slain; both of them fail to perceive the truth; this one neither slays nor is slain. (19)

• • •

आत्मा निर्विकार है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वाऽभवि / वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। २०।।

अन्वय और अर्थ—(**अयम्**)=यह, **कदाचित्**=कभी भी, **न**=नहीं, **जायते**=उत्पन्न होता है, **वा**=अथवा, **म्रियते**=मरता है, **वा अयम्**=यह, **भूत्वा**=होकर, **भूयः**=फिर से, **न**=नहीं, **अभविता**=होगा, (**इत्यपि न**=ऐसा भी नहीं है) । **अजः**=अजन्मा, **नित्यः**=सदा रहने वाला, **शाश्वतः**=स्थायी, **पुराणः**=सबसे प्राचीन, **अयम्**=यह (आत्मा), **शरीरे**=शरीर के, **हन्यमाने**=मारे जाने पर भी, **न**=नहीं, **हन्यते**=मारा जाता है।

व्याख्या—आत्मा की नित्यता और विकारहीनता बताते हुए भगवान् कहते हैं कि पदार्थ का जन्म रूपी विकार आत्मा में कभी नहीं होता है। इसी प्रकार नाश या मृत्यु रूपी विकार भी उसमें कभी नहीं होता है। वह न कभी जन्मता है और न मरता है। वह उत्पन्न होकर फिर से नहीं होगा, ऐसा भी नहीं है। आत्मा तो है, पर अस्तित्ववान् होकर बाद में नहीं रहेगा ऐसा नहीं है, अर्थात् वह कभी अभाव को प्राप्त नहीं होता है। इस

व्याख्या से पुनः उसके नाश का प्रतिषेध किया गया है। पहला जन्म और अन्तिम नाश रूप विकारों के निषेध द्वारा उसको सभी विकारों से रहित बताया गया है जो संसार में उत्पन्न होने वाले प्रत्येक पदार्थ में पाये जाते हैं। फिर भी अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से मन्त्र के अगले भाग में चार विशेषण दिये गये हैं। आत्मा अज अर्थात् जन्मरहित है। वह नित्य अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में रहने वाला है। जब वह अजन्मा है तो न उसका भूत है, न वर्तमान। वह शाश्वत अर्थात् हमेशा रहने वाला है क्योंकि निरवयव होने के कारण वह न तो स्वरूप से क्षीण होता है और निर्गुण होने के कारण न गुणों से क्षीण होता है। वह नित्य, शाश्वत और सनातन है। वह पुराण अर्थात् बढ़ाव रूपी विकार से रहित होने के कारण न वृद्ध होता है और न नया होता है। वह तो सदा पहले जैसा ही रहता है। शरीर के परिवर्तन का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता है। वह शरीर के बदलने पर भी बदलता नहीं है। शरीर के मारे जाने पर भी नष्ट नहीं होता है। आत्मा शरीर की भांति विकारी नहीं है और न ही जन्मने वाला या मरने वाला है। यहाँ अप्रत्यक्ष रूप से संसारी पदार्थों में आने वाले छह विकारों का आत्मा में अभाव बताया गया है।

भगवान् का आशय अर्जुन को यह समझाना है कि इस प्रकार से आत्मा के अविकारी स्वरूप को समझ कर तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।

टिप्पणी–जायते-√जन् (जन्म लेना), लट्, प्र०पु०एक०। **म्रियते**–√मृ (मरना), लट्, प्र० पु०एक०। **भूत्वा**-√भू (होना)+क्त्वा। **हन्यमाने**-√हन्(मारना) +यक्+शानच्।

शाङ्करभाष्य–कथम् अविक्रिय आत्मा इति द्वितीयो मन्त्रः–

न जायते न उत्पद्यते जनिलक्षणा वस्तुविक्रिया न आत्मनो विद्यते इत्यर्थः। न म्रियते वा। वाशब्दः चार्थे। न म्रियते च इति अन्त्या विनाशलक्षणा विक्रिया प्रतिषिध्यते। कदाचिद् शब्दः सर्वविक्रियाप्रतिषेधैः सम्बध्यते न कदाचिद् जायते, न कदाचिद् म्रियते, इति एवम्। यस्माद् अयम् आत्मा भूत्वा भवनक्रियाम् अनुभूय पश्चाद् अभविता अभावं गन्ता न भूयः पुनः तस्माद् न म्रियते। यो हि भूत्वा न भविता स म्रियते इति उच्यते लोके।

वाशब्दाद् नशब्दात् च अयम् आत्मा अभूत्वा भविता वा देहवद् न भूयः पुनः तस्माद् न जायते। यो हि अभूत्वा भविता स जायते इति उच्यते, न एवम् आत्मा अतो न जायते। यस्माद् एवं तस्माद् अजः, यस्माद् न म्रियते तस्माद् नित्यः च। यद्यपि आद्यन्तयोः विक्रिययोः प्रतिषेधे सर्वा विक्रियाः प्रतिषिद्धा भवन्ति तथापि मध्यभाविनीनां विक्रियाणां स्वशब्दैः एव तदर्थैः प्रतिषेधः कर्तव्य इति अनुक्तानाम् अपि

यौवनादिसमस्तविक्रियाणां प्रतिषेधो यथा स्याद् इति आह 'शाश्वत' इत्यादिना। शाश्वत इति अपक्षयलक्षणा विक्रिया प्रतिषिध्यते शश्वद्भव: शाश्वत:। न अपक्षीयते स्वरूपेण निरवयवत्वाद् निर्गुणत्वात् च न अपि गुणक्षयेण अपक्षय:।

अपक्षयविपरीता अपि वृद्धिलक्षणा विक्रिया प्रतिषिध्यते पुराण इति। यो हि अवयवागमेन उपचीयते स वर्धते अभिनव इति च उच्यते। अयं तु आत्मा निरवयवत्वात् पुरा अपि नव एव इति पुराणो न वर्धते इत्यर्थ:। तथा न हन्यते न विपरिणम्यते हन्यमाने विपरिणम्यमाने अपि शरीरे। हन्ति: अत्र विपरिणामार्थो द्रष्टव्य: अपुनरुक्ततायै न विपरिणम्यते इत्यर्थ:। अस्मिन् मन्त्रे षड्भावविकारा लौकिकवस्तुविक्रिया आत्मनि प्रतिषिध्यन्ते। सर्वप्रकारविक्रियारहित आत्मा इति वाक्यार्थ:। यस्माद् एवं तस्माद् उभौ तौ न विजानीत इति पूर्वेण मन्त्रेण अस्य सम्बन्ध:। (20)

Eng. Tran.—

He is never born, nor does he die at any time nor having (once) come to be will he again cease to be. He is unborn, eternal, permanent and primeval. He is not slain when the body is slain. (20)

• • •

आत्मा अविनाशी और अव्यय है।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुष: पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।। २१।।

अन्वय और अर्थ—पार्थ=हे अर्जुन!, **य:**=जो, **एनम्**=इस (आत्मा) को, **नित्यम्**=सदा रहने वाला, **अजम्**=जन्मरहित, **अव्ययम्**=क्षय से रहित, **अविनाशिनम् च**=और विनाशरहित, **वेद**=जानता है, **स:**=वह, **पुरुष:**=पुरुष, **कथम्**=कैसे, **कम्**=किसी को, **हन्ति**=मारता है, **कथम् च**=और कैसे, **कम्**=किसी को, **घातयति**= मरवाता है?

व्याख्या—आत्मज्ञान का प्रतिपादन करते हुए श्रीकृष्ण आत्मा के निर्विकार और अविनाशी स्वरूप का प्रकारान्तर से वर्णन करते हुए कहते हैं कि आत्मा को जानने वाला ज्ञानी न किसी क्रिया का कर्ता होता है और न प्रयोजक हेतु। ज्ञानी आत्मा को अविनाशी अर्थात् अन्तिम विकार नाश से रहित, नित्य अर्थात् परिवर्तन से रहित और सदा रहने वाला, अज अर्थात् जन्म से रहित, और अव्यय अर्थात् ह्रास से रहित समझता है। अज्ञानी अज्ञानवश शरीर की क्रियाओं और विकारों को शरीर के अधिष्ठाता आत्मा की क्रियाएं और विकार समझता है जब कि ज्ञानी तत्त्व को जानने के कारण

समझता है कि शरीराधिष्ठाता आत्मा निष्क्रिय और निर्विकार है इसलिए वह किसी भी क्रिया का कर्ता अथवा प्रयोजक हेतु नहीं हो सकता है। अर्जुन ने जैसे हनन क्रिया की बात की है इसलिए भगवान् ने उदाहरण के रूप से हनन क्रिया का ही निषेध किया–कि वह न स्वयं मारता है, न किसी के द्वारा मरवाता है। भाष्यकार ने लिखा है कि भगवान् ने अर्जुन को बताया कि शरीर का अधिष्ठाता आत्मा सर्वविध विकारों से रहित होने के कारण सर्वविध कर्मों से रहित है। उसे कोई संसारी कर्म करने की आवश्यकता नहीं है। शरीर अपने स्वभाव से जो भी कर्म करे, शरीरी आत्मा उसका कर्ता नहीं है। तात्पर्य है कि आत्मज्ञानी को सब प्रकार के कर्मों से छूट है। शास्त्र में कर्मों का विधान अज्ञानी के लिए ही है। शङ्कराचार्य का आशय है कि कर्म का विधान उसके लिए करना उचित है, जो 'मैं क्रिया का कर्ता हूँ', 'मुझे यह करना चाहिए' इस प्रकार समझता है। जो यह समझता है कि आत्मा विकाररहित है उसके लिए करने को कुछ है ही नहीं। आचार्य ने मन्त्र की व्याख्या में विस्तारपूर्वक ज्ञान और कर्म के स्वरूप और भूमिका पर भी प्रकाश ड़ाला है।

भगवान् ने स्नेहवश अर्जुन को पृथा कुन्ती के पुत्र के रूप में स्मरण कर 'पार्थ' सम्बोधन दिया है।

टिप्पणी–अविनाशिनम्–न विनाशी अविनाशी (नञ् तत्पुरुष)। **वेद**–√विद् (जानना), लट्, प्र०पु० एक०। **घातयति**–√हन् (मारना)+ णिच्, लट्, प्र०पु०एक०। **हन्ति**–√हन् (मारना), लट्, प्र०पु०एक०।

शाङ्करभाष्य–'यं एनं वेत्ति हन्तारम्' इति अनेन मन्त्रेण हननक्रियायाः कर्ता कर्म च न भवति इति प्रतिज्ञाय 'न जायते' इति अनेन अविक्रियत्वे हेतुम् उक्त्वा प्रतिज्ञातार्थम् उपसंहरति–

वेद विजानाति अविनाशिनम् अन्त्यभावविकाररहितं नित्यं विपरिणामरहितं यो वेद इति सम्बन्ध एनं पूर्वेण मन्त्रेण उक्तलक्षणम् अजं जन्मरहितम् अव्ययम् अपक्षयरहितम्।

कथं केन प्रकारेण स विद्वान् पुरुषः अधिकृतो हन्ति हननक्रियां करोति। कथं वा घातयति हन्तारं प्रयोजयति। न कथञ्चित् कश्चिद् हन्ति न कथञ्चित् कञ्चिद् घातयति इति। उभयत्र आक्षेप एव अर्थः प्रश्नार्थासम्भवात्। हेत्वर्थस्य अविक्रियत्वस्य तुल्यत्वाद् विदुषः सर्वकर्मप्रतिषेध एव प्रकरणार्थः अभिप्रेतो भगवतः। हन्तेः तु आक्षेप उदाहरणार्थत्वेन। विदुषः कं कर्मासम्भवे हेतुविशेषं पश्यन् कर्माणि आक्षिपति भगवान् 'कथं स पुरुषः' इति। ननु उक्त एव आत्मनः अविक्रियत्वं सर्वकर्मासम्भवकारणविशेषः।

सत्यम् उक्तो न तु स कारणविशेषः, अन्यत्वाद् विदुषः अविक्रियाद् आत्मन इति, न हि अविक्रियं स्थाणुं विदितवतः कर्म न सम्भवति इति चेत्। न, विदुष आत्मत्वात् न देहादिसङ्घातस्य विद्वत्ता। अतः पारिशेष्याद् असंहत आत्मा विद्वान् अविक्रिय इति, तस्य विदुषः कर्मासम्भवाद् आक्षेपो युक्तः 'कथं स पुरुषः' इति। यथा बुद्ध्याद्याहृतत्य शब्दाद्यर्थस्य अविक्रिय एव सन् बुद्धिवृत्त्यविवेकविज्ञानेन अविद्यया उपलब्धा आत्मा कल्प्यते।

एवम् एव आत्मानात्मविवेकज्ञानेन बुद्धिवृत्त्या विद्यया असत्यरूपया एव परमार्थतः अविक्रिय एव आत्मा विद्वान् उच्यते। विदुषः कर्मासम्भववचनाद् यानि कर्माणि शास्त्रेण विधीयन्ते तानि अविदुषो विहितानि इति भगवतो निश्चयः अवगम्यते। ननु विद्या अपि अविदुष एव विधीयते, विदितविद्यस्य पिष्टपेषणवद् विद्याविधानानर्थक्यात्। तत्र अविदुषः कर्माणि विधीयन्ते न विदुष इति विशेषो न उपपद्यते। न, अनुष्ठेयस्य भावाभावविशेषोपपत्तेः। अग्निहोत्रादिविध्यर्थज्ञानोत्तरकालम् अग्निहोत्रादिकर्म अनेकसाधनोपसंहारपूर्वकम् अनुष्ठेयम्, 'कर्ता अहं मम कर्तव्यम्' इति एवंप्रकारविज्ञानवतः अविदुषो यथा अनुष्ठेयं भवति न तु तथा 'न जायते' इत्यादि आत्मस्वरूपविध्यर्थज्ञानोत्तरकालभावि किञ्चिद् अनुष्ठेयं भवति। किन्तु 'न अहं कर्ता न भोक्ता' इत्यादि आत्मैकत्वाकर्तृत्वादिविषयज्ञानाद् अन्यद् न उत्पद्यते इति एष विशेष उपपद्यते।

यः पुनः 'कर्ता अहम्' इति वेत्ति आत्मानं तस्य 'मम इदं कर्तव्यम्' इति अवश्यम्भाविनी बुद्धिः स्यात्, तदपेक्षया सः अधिक्रियते इति तं प्रति कर्माणि। स च अविद्वान्–'उभौ तौ न विजानीतः' इति वचनात्। विशेषितस्य च विदुषः कर्माक्षेपवचनात् 'कथं स पुरुषः' इति। तस्माद् विशेषितस्य अविक्रियात्मदर्शिनो विदुषो मुमुक्षोः च सर्वकर्मसन्न्यासे एव अधिकारः। अत एव भगवान् नारायणः साङ्ख्यान् विदुषः अविदुषः च कर्मिणः प्रविभज्य द्वे निष्ठे ग्राहयति–'ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' इति। तथा च पुत्राय आह भगवान् व्यासः– 'द्वाविमावथ पन्थानौ' (महा० शा० 241. 6) इत्यादि। तथा च 'क्रियापथश्चैव पुरस्तात्पश्चात् सन्न्यासश्च' इति। एतम् एव विभागं पुनः पुनः दर्शयिष्यति भगवान्। 'अतत्त्ववित्तु अहङ्कारविमूढात्मा कर्ता अहम् इति मन्यते', 'तत्त्ववित्तु न अहं करोमि' इति। तथा च 'सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते' इत्यादि।

तत्र केचित् पण्डितम्मन्या वदन्ति जन्मादिषड्भावविक्रियारहितः अविक्रियः अकर्ता एकः अहम् आत्मा इति न कस्यचिज्ज्ञानम् उत्पद्यते, यस्मिन् सति सर्वकर्मसन्न्यास उपदिश्यते। न, 'न जायते' इत्यादि शास्त्रोपदेशानर्थक्यात्। यथा च शास्त्रोपदेशसामर्थ्याद्

धर्मास्तित्वविज्ञानं कर्तुः च देहान्तरसम्बन्धिज्ञानं च उत्पद्यते, तथा शास्त्रात् तस्य एव आत्मनः अविक्रियत्वाकर्तृत्वैकत्वादिविज्ञानं कस्मात् न उत्पद्यते इति प्रष्टव्याः। करणागोचरत्वाद् इति चेत्। न, 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' (बृ० 4.4.19) इति श्रुतेः। शास्त्राचार्योपदेशशमदमादिसंस्कृतं मन आत्मदर्शने करणम्। तथा च तदधिगमाय अनुमाने आगमे च सति ज्ञानं न उपपद्यते इति साहसम् एतत्। ज्ञानं च उत्पद्यमानं तद्विपरीतम् अज्ञानम् अवश्यं बाधते इति अभ्युपगन्तव्यम्। तत् च अज्ञानं दर्शितं हन्ता अहं हतः अस्मि इति। 'उभौ तौ न विजानीतः' इति अत्र च आत्मनो हननक्रियायाः कर्तृत्वं कर्मत्वं हेतुकर्तृत्वं च अज्ञानकृतं दर्शितम्।

तत् च सर्वक्रियासु अपि समानं कर्तृत्वादेः अविद्याकृतत्वम् अविक्रियत्वाद् आत्मनः। विक्रियावान् हि कर्ता आत्मनः कर्मभूतम् अन्यं प्रयोजयति कुरु इति। तद् एतद् अविशेषेण विदुषः सर्वक्रियासु कर्तृत्वं हेतुकर्तृत्वं च प्रतिषेधति भगवान् विदुषः कर्माधिकाराभावप्रदर्शनार्थं 'वेदाविनाशिनम्', 'कथं स पुरुषः' इत्यादिना। क्व पुनः विदुषः अधिकार इति एतद् उक्तं पूर्वम् एव 'ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानाम्' इति। तथा च सर्वकर्मसन्न्यासं वक्ष्यति 'सर्वकर्माणि मनसा' इत्यादिना। ननु मनसा इति वचनाद् न वाचिकानां कायिकानां न सन्न्यास इति चेत्। न, सर्वकर्माणि इति विशेषितत्वात्। मानसानाम् एव सर्वकर्मणाम् इति चेत्। न, मनोव्यापारपूर्वकत्वाद् वाक्कायव्यापाराणां मनोव्यापाराभावे तदनुपपत्तेः। शास्त्रीयाणां वाक्कायकर्मणां कारणानि मानसानि वर्जयित्वा अन्यानि सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यसेद् इति चेत्। न, न एव कुर्वन् न कारयन् इति विशेषणात्। सर्वकर्मसन्न्यासः अयं भगवत उक्तो मरिष्यतो न जीवत इति चेत्। न, नवद्वारे पुरे देही आस्ते, इति विशेषणानुपपत्तेः। न हि सर्वकर्मसन्न्यासेन मृतस्य तद्देहे आसनं सम्भवति अकुर्वतः अकारयतः च। देहे सन्न्यस्य इति सम्बन्धो न देहे आस्ते इति चेत्। न, सर्वत्र आत्मनः अविक्रियत्वावधारणात्। आसनक्रियायाः च अधिकरणापेक्षत्वात् तदनपेक्षत्वात् च सन्न्यासस्य, संपूर्वः तु न्यासशब्द इह त्यागार्थो न निक्षेपार्थः।

तस्माद् गीताशास्त्रे आत्मज्ञानवतः सन्न्यासे एव अधिकारो न कर्मणि इति तत्र तत्र उपरिष्टाद् आत्मज्ञानप्रकरणे दर्शयिष्यामः। (21)

Eng. Tran.—

He who knows that it is indestructible and eternal uncreate and unchanging, how can such a person slay any one, O Pārtha (Arjuna), or cause any to slay? (21)

• • •

शरीर बदलना वस्त्र बदलने जैसा है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।। २२।।

अन्वय और अर्थ–**यथा**=जिस प्रकार, **नरः**=मनुष्य, **जीर्णाणि**=पुराने, **वासांसि**=वस्त्रों को, **विहाय**=छोड़कर, **अपराणि**=दूसरे, **नवानि**=नये (वस्त्रों) को, **गृह्णाति**=ग्रहण करता है, **तथा**=उसी प्रकार, **देही**=जीवात्मा, **जीर्णाणि**=पुराने, **शरीराणि**=शरीरों को, **विहाय**=छोड़कर, **अन्यानि**=दूसरे, **नवानि**=नये को, **संयाति**=प्राप्त करता है।

व्याख्या–आत्मा के स्वरूप-निरूपण के अन्तर्गत तेरहवें श्लोक में भगवान् ने अर्जुन को बताया कि 'देहान्तरप्राप्ति' अर्थात् दूसरा शरीर मिलना आत्मा की एक अवस्था है। अब यहाँ एक उपमा द्वारा बतला रहे हैं कि उसके लिए शरीर बदलना वस्त्र बदलने जैसा है। आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में अविनाशी और विकार-रहित है।

संसार में हम देखते हैं कि मनुष्य अपने कपड़ों के पुराने हो जाने पर या फट जाने पर उनको बिना मोह के छोड़ देता है और उनके स्थान पर नये कपड़ों को धारण कर लेता है। वस्त्र बदलने से मनुष्य नहीं बदलता। वह पहले जैसा ही रहता है, यद्यपि उसके वस्त्र दूसरे होते हैं। ठीक इसी प्रकार देह का स्वामी आत्मा देह के वृद्धावस्था या रोग आदि से जीर्ण हो जाने पर और उसका भोगकाल समाप्त हो जाने पर उसे छोड़ देता है और दूसरे शरीर में चला जाता है। शरीर बदलने पर भी आत्मा नहीं बदलता है। अतः भीष्म और द्रोण की मृत्यु की चिन्ता से अर्जुन का शोक निराधार है। जब उनके ये शरीर नहीं होंगे, तब भी आत्मा के रूप में वे होंगे। अत एव आत्मा के नित्य और अविनाशी स्वरूप को समझ कर अर्जुन को अपने कर्तव्य से विमुख नहीं होना चाहिए।

टिप्पणी–**जीर्णानि**–√जॄ (पुराना पड़ जाना) + क्त, जीर्ण, नपुं० प्रथमा बहु०। **विहाय**–वि + √हा (छोड़ना) + ल्यप्।, **गृह्णाति**–√ग्रह् (ग्रहण करना), लट्, प्र० पु० एक०। **संयाति**–सम्+√या (गमन करना), लट्, प्र० पु० एक०।

शाङ्करभाष्य–प्रकृतम् तु वक्ष्यामः। तत्रात्मनोऽविनाशित्वं प्रतिज्ञातम्। 'तत्किमिव'? इत्युच्यते 'वासांसि' इति। वासांसि वस्त्राणि, जीर्णानि दुर्बलतां गतानि यथा लोके विहाय परित्यज्य नवानि अभिनवानि गृह्णाति उपादत्ते नरः पुरुषःअपराणि अन्यानि, तथा तद्वद् एव शरीराणि विहाय जीर्णानि अन्यानि संयाति सङ्गच्छति नवानि देही आत्मा पुरुषवद् अविक्रिय एवेत्यर्थः। (22)

Eng. Tran.—

Just as a person casts off worn-out garments and puts on others that are new, even so does the embodied soul cast off worn-out bodies and take on others that are new. (22)

• • •

आत्मा किसी भी क्रिया का कर्म नहीं है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।। २३।।

अन्वय और अर्थ–**एनम्**=इस आत्मा को, **शस्त्राणि**=शस्त्र, **न छिन्दन्ति**= नहीं काट सकते; **एनम्**=इसको, **पावकः**=अग्नि, **न दहति**=नहीं जला सकता; **एनम्**= इसको, **आपः**=जल, **न क्लेदयन्ति**=नहीं भिगो सकते; **च**=और, **मारुतः**=वायु, **न शोषयति**=नहीं सुखा सकता।

व्याख्या–आत्मा अविनाशी क्यों है-इसको स्पष्ट करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ कह रहे हैं कि शस्त्र आदि शरीर को नष्ट कर सकते हैं पर शरीर के अधिष्ठाता आत्मा को नहीं। अस्त्र और शस्त्र किसी अवयव-युक्त वस्तु को टुकड़े-टुकड़े करके काटते हैं और इस प्रकार उसे नष्ट कर सकते हैं। वस्तु अवयवयुक्त न हो, तो वे उसे नहीं काट सकते। आत्मा न स्थूल है और न अवयवों वाला, अतः इनके द्वारा उसको काटना सम्भव नहीं है। अग्नि पदार्थों के छोटे से छोटे अणु को भी जलाकर भस्म कर सकता है, परन्तु आत्मा को नहीं, क्योंकि वह अणु रूप अवयवों वाला नहीं है। जल किसी स्पर्शवान् पदार्थ को गीला करके उसके अवयवों को गला कर नष्ट करता है किन्तु आत्मा को जल से भिगोकर अलग-अलग टुकड़े करके नष्ट नहीं किया जा सकता है। वायु किसी स्नेहयुक्त पदार्थ के स्नेह (रस) को सुखाकर उसे अलग-अलग करके नष्ट कर सकता है किन्तु स्नेहरहित आत्मा को वह सुखाकर नष्ट नहीं कर सकता।

पृथिवी (शस्त्र), अग्नि, जल और वायु- ये चारों तत्त्व संसार के पदार्थों को अपनी-अपनी तरह से नष्ट करने का सामर्थ्य रखते हैं, शस्त्र काटकर, अग्नि जला कर, जल भिगोकर, और वायु सुखा कर, किन्तु आत्मा तो इन चारों तत्त्वों की क्रियाओं का विषय नहीं हो सकता है क्योंकि न वह कट सकता है, न जल सकता है, न भिगोया जा सकता है, और न सुखाया जा सकता है; इसीलिए वह किसी भी तरह नष्ट होने योग्य नहीं है।

टिप्पणी–छिन्दन्ति-√छिद् (छेदना), लट्, प्र०पु० बहु०। **दहति**–√दह् (जलाना), लट्, प्र०पु०एक०। **क्लेदयन्ति**–√क्लिद् (भिगोना)+णिच्, लट्, प्र० पु० बहु०। **शस्त्राणि**– समीप से मारने वाले हथियार जैसे तलवार आदि 'शस्त्र' कहलाते हैं और दूर से फेंककर चलाये जाने वाले हथियार जैसे भाला आदि 'अस्त्र' कहलाते हैं।

शाङ्करभाष्य–'कस्माद् अविक्रिय एव?' इत्याह 'नैनं छिन्दन्ति...' इति। एनं प्रकृतं देहिनं, न छिन्दन्ति शस्त्राणि निरवयवत्वात् न अवयवविभागं कुर्वन्ति शस्त्रानि अस्यादीनि, तथा नैनं दहति पावकः अग्निरपि न भस्मीकरोति। तथा न चैनं क्लेदयन्त्यापः। 'अपां हि सावयवस्य वस्तुन आर्द्रीभावकरणेन अवयवविश्लेषापादने सामर्थ्यम्; तद् न निरवयवे आत्मनि सम्भवति। तथा स्नेहवद् द्रव्यं स्नेहशोषणेन नाशयति वायुः। एनं स्वात्मानं न शोषयति मारुतोऽपि। (23)

Eng. Tran.—

Weapons do not cleave this self, fire does not burn him; waters do not make him wet; nor does the wind make him dry. (23)

• • •

आत्मा नित्य और सर्वव्यापी है।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।। २४।।

अन्वय और अर्थ–अयम्=यह (आत्मा), **अच्छेद्यः**=छेदा नहीं जा सकता है, **अयम्**=यह, **अदाह्यः**=जलाया नहीं जा सकता है, **अयम्**=यह, **अक्लेद्यः**=भिगोया नहीं जा सकता है, **च**=और, **अशोष्यः एव**=(यह) सुखाया भी नहीं जा सकता है। **अयम्**=यह, **नित्यः**=सब कालों में उपलब्ध, **सर्वगतः**=सब दिशाओं में स्थित, **स्थाणुः**=निर्विकार एवं स्थिर, **अचलः**=गतिहीन, (**च**) **सनातनः**=और सदा एक सा रहने वाला है।

व्याख्या–पिछले श्लोक में आत्मा के अविनाशी स्वरूप को बताया गया। उसी बात का उपसंहार करते हुए मन्त्र के पूर्वार्ध में आत्मा के अभावरूप गुणों का वर्णन किया गया है। शस्त्र उसे काट नहीं सकता, आग जला नहीं सकती, जल भिगो नहीं सकता और हवा सुखा नहीं सकती। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु न केवल अपने आश्रय को नष्ट करते हैं, बल्कि एक दूसरे को भी नष्ट करते हैं। आग पार्थिव पदार्थों

और जल को जलाकर नष्ट करती है तो जल आग को नष्ट करता है। परन्तु आत्मा को ये सब नष्ट नहीं कर सकते। अतएव आत्मा नित्य, अविनाशी और सदा सर्वदा रहने वाला है।

मन्त्र के उत्तरार्ध में आत्मा के पांच भावरूप गुणों का वर्णन किया गया है। वह सदाभावी होने से 'नित्य', सर्वत्र व्याप्त होने से 'सर्वगत', अपरिवर्तनीय और अविकारी होने से 'स्थाणु', गति से रहित होने से 'अचल' और पुरातन एवं सदा एक सा होने से 'सनातन' है। आचार्य शङ्कर ने इन पाचों गुणों को परस्पर सम्बद्ध करते हुए व्याख्या की है–महाभूत इस आत्मा को नष्ट नहीं कर सकते, इसलिए वह नित्य है, नित्य होने से सर्वगत (सर्वव्यापक) है, सर्वगत होने से स्थाणु (ठूंठ) के समान स्थिर है, स्थिरता के कारण गतिरहित है और इसीलिए किसी भी कारण से उत्पन्न हुआ नहीं होकर चिरन्तन है। यहाँ पुनरुक्तता दोष नहीं माना जाना चाहिए यद्यपि आत्मा की नित्यता और निर्विकारता का प्रतिपादन पहले किया जा चुका है। वस्तुतः आत्मतत्त्व अत्यन्त दुर्बोध है इसलिए भगवान् उसके स्वरूप का पुनः पुनः अलग-अलग तरह से व्याख्यान कर रहे हैं।

टिप्पणी–अच्छेद्यः-न छेद्यः अच्छेद्यः (नञ् तत्पुरुष), √छिद् (चीरना)। **अदाह्यः**-न दाह्यः अदाह्यः (नञ् तत्पुरुष), √दह् (जलाना)। **अक्लेद्यः**-न क्लेद्यः अक्लेद्यः (नञ् तत्पुरुष), √क्लिद् (गीला होना)। **अशोष्यः**-न शोष्यः अशोष्यः (नञ् तत्पुरुष), √शुष् (सूख जाना)।

शाङ्करभाष्य–यत एवं तस्मात् यस्माद् अन्योन्यनाशहेतूनि भूतानि एनम् आत्मानं नाशयितुं न उत्सहन्ते। तस्माद् नित्यः। नित्यत्वात् सर्वगतः सर्वगतत्वात् स्थाणुः स्थाणुः इव स्थिर इति एतत्। स्थिरत्वाद् अचलः अयम् आत्मा अतः सनातनः चिरन्तनो न कारणात् कुतश्चिद् निष्पन्नः अभिनव इत्यर्थः।

न एतेषां श्लोकानां पौनरुक्त्यं चोदनीयम्। यद् एकेन एव श्लोकेन आत्मनो नित्यत्वम् अविक्रियत्वं च उक्तम् 'न जायते म्रियते वा' इत्यादिना। तत्र यद् एव आत्मविषयं किञ्चिद् उच्यते तत एतस्मात् श्लोकार्थाद् न अतिरिच्यते किञ्चित् शब्दतः पुनरुक्तं किञ्चिद् अर्थत इति। दुर्बोधत्वाद् आत्मवस्तुनः पुनः पुनः प्रसङ्गम् आपाद्य शब्दान्तरेण तद् एवं वस्तु निरूपयति भगवान् वासुदेवः कथं नु नाम संसारिणाम् अव्यक्तं तत्त्वं बुद्धिगोचरताम् आपन्नं सत् संसारनिवृत्तये स्याद् इति। (24)

Eng. Tran.—

He is uncleavable. He cannot be burnt. He can be neither

wetted nor dried. He is eternal, all-pervading, unchanging and immovable. He is the same forever. (24)

• • •

आत्मा अव्यक्त और अविकारी है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।। २५।।

अन्वय और अर्थ–अयम्=यह (आत्मा), **अव्यक्त:**=(इन्द्रियों से) व्यक्त न होने वाला, **अयम्**=यह, **अचिन्त्य:**=(मन से) चिन्तन न किया जाने वाला, **अयम्**=(और) यह, **अविकार्य:**=विकाररहित, **उच्यते**=कहा जाता है। **तस्मात्**=अत:, **एनम्**=इसको, **एवम्**=इस प्रकार, **विदित्वा**=जानकर, (**त्वम्**=तुम), **अनुशोचितुम्**=शोक करने के, **न अर्हसि**=योग्य नहीं हो।

व्याख्या–भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के शोक के निराकरण के लिए आत्मा के स्वरूप का विवेचन किया। इसके अर्न्तगत उन्होंने आत्मा को निर्विकार बताया। इसी तथ्य को अधिक स्पष्ट करते हुए यहाँ उसकी तीन विशेषताएं बताई गई हैं–जिससे प्रकट होता है कि आत्मा स्थूल, लिङ्ग और कारण शरीरों से पृथक् है। पांचों ज्ञान-इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का ग्रहण करके उनको व्यक्त करती हैं। इन्द्रिय-विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध रूप में स्थूल पदार्थ होते हैं। आत्मा स्थूल पदार्थ नहीं है इसलिए ये कोई भी इन्द्रिय उसको व्यक्त नहीं कर सकती, तभी कहा गया है कि आत्मा 'अव्यक्त' है। वह स्थूल शरीर से भिन्न है।

मन अन्तरिन्द्रिय है, वह सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ का चिन्तन कर सकता है, अनुमान कर सकता है। पर आत्मा तो सूक्ष्मता से भी रहित है अत: मन के चिन्तन की सीमा से बाहर होने से वह अचिन्त्य है। इस विशेषता द्वारा उसका लिङ्ग शरीर से भिन्न होना प्रकट होता है क्योंकि लिङ्ग शरीर का मन से अनुमान किया जा सकता है। 'अविकार्य' विशेषता से बताया गया है कि आत्मा विकारयुक्त होने वाला नहीं है क्योंकि वह निरवयव है। मूलप्रकृति विकारी होती है पर आत्मा अविकारी है। सत्त्व, रजस् और तमस् नामक त्रिगुण समूह को मूल अविद्या, मूल प्रकृति एवं कारण शरीर कहते हैं। इससे सृष्टि होती है परन्तु आत्मा इससे भी भिन्न है।

जो आत्मा के इस प्रकार के निर्विकार स्वरूप को जान लेता है वह शोक नहीं करता है। भगवान् ने अर्जुन को समझाया कि आत्मा के स्वरूप को समझ कर तुम्हें शोक करना उचित नहीं है।

टिप्पणी–**अव्यक्तः**:-न व्यक्तः अव्यक्तः (नञ् तत्पुरुष); व्यक्त-वि+√अञ्ज् (प्रकाशित करना)+क्त। **अचिन्त्यः**:-न चिन्त्यः अंचिन्त्यः (नञ् तत्पुरुष); चिन्त्य-√चिन्त् (सोचना)+यत्। **उच्यते**-√वच् (बोलना), लट्, प्र०पु०एक० (कर्मवाच्य)। **विदित्वा**-√विद् (जानना)+ क्त्वा। **अनुशोचितुम्**-अनु+√शुच् (शोक करना)+तुमुन्।

शाङ्करभाष्य–किं च–

अव्यक्तः सर्वकरणाविषयत्वाद् न व्यज्यते इति अव्यक्तः अयम् आत्मा। अत एव अचिन्त्यः अयम्। यद् हि इन्द्रियगोचरं वस्तु तत् चिन्ताविषयत्वम् आपद्यते अयं तु आत्मा अनिन्द्रियगोचरत्वाद् अचिन्त्यः। अविकार्यः अयम् यथा क्षीरं दध्यातञ्चनादिना विकारि न तथा अयम् आत्मा। निरवयवत्वात् च अविक्रियः। न हि निरवयवं किञ्चिद् विक्रियात्मकं दृष्टम्। अविक्रियत्वाद् अविकार्यः अयम् आत्मा उच्यते। तस्माद् एवं यथोक्तप्रकारेण एनम् आत्मानं विदित्वा त्वं न अनुशोचितुम् अर्हसि हन्ता अहम् एषां मया एते हन्यन्ते इति। (25)

Eng. Tran.—

He is said to be unmanifest, unthinkable, and unchanging. Therefore, knowing him as such, thou shouldst not grieve. (25)

• • •

यदि इसे नित्य मरने वाला समझते हो तब भी शोक अनुचित है।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।। २६ ।।

अन्वय और अर्थ–**महाबाहो**=हे बड़ी-बड़ी भुजाओं वाले (पराक्रमी) अर्जुन!, **अथ च**=और अगर (तुम), **एनम्**=इस (आत्मा)को, **नित्यजातम्**=सदा उत्पन्न हुआ, **वा**=अथवा, **नित्यम्**=सदा, **मृतम्**=मरा हुआ, **मन्यसे**=मानते हो, **तथापि**=तब भी, **त्वम्**=तुम, **एवम्**=इस प्रकार, **शोचितुम्**=शोक करने के, **न अर्हसि**=योग्य नहीं हो।

व्याख्या–भगवान् ने अर्जुन को आत्मा की नित्यता और शरीर की अनित्यता बतलाकर यह समझाया कि शरीर के नाश को आत्मा का नाश समझकर तुम्हें शोक के वशीभूत नहीं होना चाहिए। अब इस तीन श्लोकों में वे बतला रहे हैं कि यदि तुम्हारी समझ ही सही मानी जाए तब भी तुम्हारा शोक निराधार है। तुम्हारी समझ में आत्मा और शरीर अलग-अलग नहीं हैं। जिसे मैं (श्रीकृष्ण) शरीर का जन्म और मृत्यु कह

रहा हूँ उसे तुम (अर्जुन) भीष्म, द्रोण आदि का जन्म और मृत्यु समझ रहे हो। अगर इसे ही सही माना जाए तब भी अवश्यम्भावी जन्म और मृत्यु का शोक करना उचित नहीं है। लोक में प्राय: लोग जन्म होने पर 'वह पैदा हो गया', 'पैदा हो गया', और मृत्यु पर 'वह मर गया', 'वह मर गया' समझते हैं। वह नित्य जन्म लेने से 'नित्य जात' और नित्य नष्ट होने से 'नित्य मृत' है–ऐसा आत्मा के अस्तित्व में विश्वास न रखने वाले भौतिकतावादी दार्शनिक मानते हैं। चार्वाक मत है कि पाँच भूतों के एक विशेष आनुपातिक मेल से शरीर, और उसमें चेतना स्वत: उत्पन्न हो जाती है। जब जब ऐसा मेल होता है तब तब इस प्रकार के शरीर अवश्य उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार स्वाभाविक प्रक्रिया के अन्तर्गत तत्त्वों के जीर्ण होने पर चेतना नष्ट हो जाती है और शरीर नष्ट हो जाता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस दृष्टिकोण से भी तुम्हारा शोक करना अनुचित है क्योंकि तब तो जन्म और मृत्यु दोनों ही अवश्यम्भावी होने से अपरिहार्य है।

भगवान् ने अर्जुन को बड़ी भुजाओं वाला बताकर उसके उत्साह और पराक्रम का स्मरण किया है।

टिप्पणी–नित्यजातम्-नित्यं जातम् नित्यजातम् (द्वि० तत्पुरुष)। **महाबाहो**-महान्तौ बाहू यस्य स:, तत्सम्बुद्धौ हे महाबाहो। **मन्यसे**-√मन् (मनन करना), लट्, म०पु०एक०। **मृतम्**-√मृ (मरना)+क्त। **शोचितुम्**-√शुच् (शोक करना)+तुमुन्।

शाङ्करभाष्य–आत्मन: अनित्यत्वम् अभ्युपगम्य इदम् उच्यते–

अथ च इति अभ्युपगमार्थ:। एनं प्रकृतम् आत्मानं नित्यजातं लोकप्रसिद्ध्या प्रत्यनेकशरीरोत्पत्तिं जातो जात इति मन्यसे। तथा प्रतितद्विनाशं नित्यं वा मन्यसे मृतं मृतो मृत इति। तथापि तथाभाविनि अपि आत्मनि त्वं महाबाहो एवं न शोचितुम् अर्हसि, जन्मवतो नाशो नाशवतो जन्म च इति एतौ अवश्यं भाविनौ इति। (26)

Eng. Tran.—

Even if thou thinkest that the self is perpetually born and perpetually dies, even then, O Mighty-armed (Arjuna), thou shouldst not grieve. (26)

• • •

जन्म और मृत्यु अपरिहार्य है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।। २७।।

अन्वय और अर्थ–**जातस्य**=जन्म लेने वाले की, **हि**=निश्यच ही, **मृत्युः**=मृत्यु, **ध्रुवः**=अटल है, **च**=और, **मृतस्य**=मृत प्राणी का, **जन्म**=जन्म, **ध्रुवम्**=अटल है। **तस्मात्**=अत एव, **त्वम्**=तुम, **अपरिहार्ये**=न टाले जा सकने वाले, **अर्थे**=विषय में, **शोचितुम्**=शोक करने के, **न अर्हसि**=योग्य नहीं हो।

व्याख्या–'उत्पन्न वस्तु का नाश अवश्य होता है' इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि हे अर्जुन! जन्म लेने वाले की मृत्यु अवश्य होती है और उसका जन्म भी अवश्य होता है, उसे कोई रोक नहीं सकता। वस्तुत: मनुष्य को अपने कर्मों के अनुसार जन्म ग्रहण करना होता है और एक कर्म-अवधि समाप्त होने पर उसे मरना होता है जिससे वह दूसरा जन्म ले सके। स्वयं किये गये कर्मों में से जिन पुण्य और पाप कर्मों के भोग का अवसर आ जाता है, उनको 'प्रारब्ध कहते हैं। उनके भोग के लिए जैसा शरीर तथा इन्द्रिय आदि अपेक्षित होते हैं, वैसा शरीर और इन्द्रिय आदि वह आत्मा पा लेता है। यह आत्मा का जन्म कहलाता है। जब कर्मों के भोग का उस शरीर के द्वारा भोग्य प्रारब्ध-अंश समाप्त हो जाता है तब आत्मा उस शरीर के सम्बन्ध से छूट जाता है यह उसकी मृत्यु है। अनन्तर अन्य कर्मों के भोग के लिए अन्य शरीर मिलता है। इस प्रकार कर्मों के भोग के लिए नये नये शरीर उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं। मुक्ति प्राप्त किये बिना जन्म और मृत्यु का यह चक्र चलता रहता है। इससे ज्ञात होता है कि जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु अवश्य होगी और जिसकी मृत्यु हुई है उसका जन्म भी अवश्य होगा। अत: जन्म और मृत्यु की अपरिहार्यता में कोई सन्देह नहीं है और अपरिहार्य वस्तु के लिए शोक करना बुद्धिमान् का कार्य नहीं है इसलिए अर्जुन को यह सब समझकर शोक करना कदापि उचित नहीं है।

टिप्पणी–**अपरिहार्ये**–न परिहार्य अपरिहार्य (नञ् तत्पुरुष), सप्तमी एक०; परिहार्य-परि+√हृ (हर ले जाना)+ण्यत्। **जातस्य**-जन् (उत्पन्न होना)+क्त। **शोचितुम्**-√शुच् (शोक करना)+तुमुन्।

शाङ्करभाष्य–तथा च सति–जातस्य हि लब्धजन्मनो ध्रुव: अव्यभिचारी मृत्युः मरणं ध्रुवं जन्म मृतस्य च तस्माद् अपरिहार्य: अयं जन्ममरणलक्षण: अर्थ: तस्मिन् अपरिहार्ये अर्थे न त्वं शोचितुम् अर्हसि। (27)

Eng. Tran.—

For to the one that is born death is certain, and certain is birth for the one that has died. Therefore, for what is unavoidable, thou shouldst not grieve. (27)

• • •

भूतों का आदि और अन्त अव्यक्त है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।। २८।।

अन्वय और अर्थ–भारत=हे भरतवंशी!, **भूतानि**=सारे प्राणी, **अव्यक्तादीनि**= प्रारम्भ में अप्रकट, **व्यक्तमध्यानि**=मध्य में प्रकट, **अव्यक्तनिधनानि**=और विनाश होने पर अप्रकट, **एव**=ही होते हैं; **तत्र**=अत: इस विषय में, **का**=क्या, **परिदेवना**=शोक करना?

व्याख्या–आत्मा के अस्तित्व को न मानने वाले दृष्टिकोण से भी मृत्यु का शोक करना निराधार है। इस विषय का उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं आत्मा से भिन्न सारे भौतिक तत्त्व अपनी उत्पत्ति से पूर्व अदृश्य होते हैं। कालक्रम से वे प्रकट होते हैं और फिर नष्ट होकर अदृश्य हो जाते हैं। प्रारम्भिक और अन्तिम अवस्थाओं में सारे तत्त्व अप्रकट और केवल मध्य में ही प्रकट होते हैं। यहाँ 'व्यक्त' शब्द का प्रयोग किया गया है। इन्द्रियों और मन से उपलब्ध न होना ही 'अव्यक्त' होना है। सब भूत अर्थात् जीव अपने जन्म से पूर्व अव्यक्त होते हैं और मरने के बाद भी अव्यक्त हो जाते हैं। वे केवल इस जन्म से लेकर मरण तक की अवस्थाओं में व्यक्त होते हैं। वह अज्ञात से आया और अज्ञात में चला गया, न वह तेरा है न तू उसका है। ऐसी स्थिति में मृगमरीचिका के समान पहले अनुपलब्ध, फिर उपलब्ध और अन्तत: फिर अनुपलब्ध के नाश पर क्या प्रलाप या शोक करना?

यहाँ अर्जुन को उसके गोत्र नाम 'भारत' से सम्बोधित किया जाता है। टीकाकारों की दृष्टि में इसके दो प्रयोजन हैं–(1) तुम भरत जैसे यशस्वी राजा के वंश में उत्पन्न हुए हो अत: तुममें शास्त्र को समझने की पूरी योग्यता है। (2) तुम्हारे पूर्वज भरत आदि भी अव्यक्त से उत्पन्न होकर उसी में लीन हो गये हैं। वैसी ही गति सभी की होनी है।

भगवान् ने इस प्रकार समझाया कि शरीरनाश के लिए शोक का कोई कारण नहीं है, चाहें हम आत्मा के अस्तित्व को माने या न माने। पहली स्थिति में आत्मा शाश्वत है अत: शरीर-नाश वस्त्र बदलने जैसा है, और दूसरी स्थिति में शरीर का नाश अवश्यम्भावी है क्योंकि वे कुछ समय के लिए व्यक्त होने वाले पदार्थ हैं, जिनका नाश अपरिहार्य है।

टिप्पणी–अव्यक्तादीनि–अव्यक्त: आदि: येषां तानि अव्यक्तादीनि (बहुव्रीहि)। **व्यक्तमध्यानि**–व्यक्तं मध्यं येषां तानि व्यक्तमध्यानि (बहुव्रीहि)। **अव्यक्तनिधनानि**– अव्यक्तं निधनं येषां तानि अव्यक्तनिधनानि (बहुव्रीहि)।

शाङ्करभाष्य—कार्यकरणसङ्घातात्मकानि अपि भूतानि उद्दिश्य शोको न युक्तः कर्तुं यतः–

अव्यक्तानि अव्यक्तम् अदर्शनम् अनुपलब्धिः आदिः येषां भूतानां पुत्रमित्रादिकार्यकरणसङ्घातात्मकानां तानि अव्यक्तादीनि भूतानि प्राग् उत्पत्तेः। उत्पन्नानि च प्राग् मरणाद् व्यक्तमध्यानि। अव्यक्तनिधनानि एव पुनः अव्यक्तम् अदर्शनं निधनं मरणं येषां तानि अव्यक्तनिधनानि मरणाद् ऊर्ध्वम् अपि अव्यक्तताम् एव प्रतिपद्यन्ते इत्यर्थः। तथा च उक्तम्–'अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः। नासौ तव न तस्य त्वं वृथा का परिदेवना।।' (महा० स्त्री० 2.13) इति। तत्र का परिदेवना को वा प्रलापः अदृष्टदृष्टप्रणष्टभ्रान्तिभूतेषु भूतेषु इत्यर्थः। (28)

Eng. Tran.—

Beings are unmanifest in their beginnings, manifest in the middles and unmanifest again in their ends, O Bhārata (Arjuna), What is there in this for lamentation? (28)

• • •

आत्मा दुर्बोध है।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।२९।।

अन्वय और अर्थ—**कश्चित्**=कोई, **एनम्**=इस (आत्मा) को, **आश्चर्यवत्**=आश्चर्य की तरह, **पश्यति**=देखता है; **च**=और, **अन्यः**=कोई दूसरा, **तथा एव**=उसी प्रकार, **एनम्**=इसको, **आश्चर्यवत्**=आश्चर्य की तरह, **वदति**=कहता है; **च**=और, **अन्यः**=कोई अन्य, **एनम्**=इसको, **आश्चर्यवत्**=आश्चर्य की तरह, **शृणोति**=सुनता है; **च**=और, **श्रुत्वा**=सुनकर, **अपि**=भी, **कश्चित्**=कोई, **एनम्**=इस (आत्मा) को, **एव**=निश्चय ही, **न वेद**=नहीं जानता है।

व्याख्या—अर्जुन को आत्मज्ञान का उपदेश देते हुए भगवान् यहाँ बता रहे हैं कि आत्मा दुर्बोध है। उसके स्वरूप को समझने वाला हजारों में कोई विरला ही होता है। आत्मा की दुर्बोधता का कारण है कि उपाधिरहित आत्मा कहीं उपलब्ध नहीं होता है। उसकी उपलब्धि सदा ही शरीर और इन्द्रियों की उपाधि से युक्त 'मैं' के रूप में होती है। अतः वह तब तक दुर्बोध है जब तक उपाधि के मिथ्यात्व का अनुभव न हो जाएं। आत्म-साक्षात्कार कर पाना कठिन है इसलिए वह आश्चर्य सा प्रतीत होता है। भगवान् कहते हैं कि कोई इसे आश्चर्य सा देखता है अर्थात् शास्त्रों के उपदेश से देखता हुआ

भी आश्चर्य सा मानता है। कोई दूसरा मनुष्य अद्भुत की तरह इसका बखान करता है। यदि गुरु आदि से इसका उपदेश सुनने को मिल जाए तो कोई सुनने वाला उसके विषय में सुनकर चकित हो जाता है और यदि कई सुनने वालों में से कोई इसे अच्छी तरह सुन भी ले तब भी इसे समझ नहीं पाता है। इसे तो सुनकर, देखकर, बखान करके भी कोई नहीं समझता। इसीलिए कठिनता से समझ से आने वाला होने से आत्मा को अद्भुत या आश्यर्चरूप बताया गया है। हजारों में कोई एक ही इसे श्रवण, मनन, निदिध्यासन से जान सकता है। यदि कोई जान लेता है तो वह ज्ञानी हो जाता है और फिर आत्मसाक्षात्कर करके ब्रह्म में लीन होता है।

टिप्पणी–पश्यति-√दृश् (>पश्य) (देखना), लट्, प्र०पु०एक०। **वदति**-√वद् (बोलना), लट्, प्र०पु०एक०। **शृणोति**-√श्रु (सुनना), लट्, प्र०पु०एक०। **श्रुत्वा**-√श्रु (सुनना)+क्त्वा। **वेद**-√विद् (जानना), लट्, प्र०पु०एक०।

शाङ्करभाष्य–दुर्विज्ञेय: अयं प्रकृत आत्मा किं त्वाम् एव एकम् उपालभे साधारणे भ्रान्तिनिमित्ते। कथं दुर्विज्ञेय: अयम् आत्मा इति आह–

आश्चर्यवद् आश्चर्यम् अदृष्टपूर्वम् अद्भुतम् अकस्माद् दृश्यमानं तेन तुल्यम् आश्चर्यवद् आश्चर्यम् इव एनम् आत्मानं पश्यति कश्चित्। आश्चर्यवद् एनं वदति तथा एव च अन्य:। आश्चर्यवत् च एनम् अन्य: शृणोति। श्रुत्वा दृष्ट्वा उक्त्वा अपि एनं वेद न च एव कश्चित्। अथ वा य: अयम् आत्मानं पश्यति स आश्चर्यतुल्यो यो वदति, य: च शृणोति, स: अनेकसहस्रेषु कश्चिद् एव भवति, अतो दुर्बोध आत्मा इति अभिप्राय:। (२९)

Eng. Tran.–

One looks upon Him as a marvel, another likewise speaks of Him as a marvel; another hears of Him as a marvel; and even after hearing, no one whatsoever has known Him. (29)

• • •

शरीर में आत्मा अवध्य है।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।। ३०।।

अन्वय और अर्थ–भारत=हे भरतवंशी!, **सर्वस्य**=सबके, **देहे**=शरीर में, **अयम्**=यह, **देही**=देह धारण करने वाला आत्मा, **नित्यम्**=सदा, **अवध्य:**=न मारा जाने वाला है। **तस्मात्**=अत:, **त्वम्**=तुम, **सर्वाणि**=सभी, **भूतानि**=प्राणियों के लिए, **शोचितुम्**=शोक करने के, **न अर्हसि**=योग्य नहीं हो।

व्याख्या—कुरुक्षेत्र के युद्ध में स्वजनों की मृत्यु की चिन्ता से अर्जुन को जो शोक उत्पन्न हुआ उसके निराकरण के लिए भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे आत्मज्ञान का उपदेश देना प्रारम्भ किया। अब उस प्रकरण का उपसंहार करते हुए वे कहते हैं कि इस देह का स्वामी आत्मा जो 'देही' है वह सभी कालों में विद्यमान रहने से नित्य है, जबकि यह देह अनित्य है। इसलिए केवल भीष्म और द्रोणाचार्य ही नहीं, सभी जीवों का देहाधिष्ठाता आत्मा नष्ट होने वाला नहीं है। आत्मा जन्म, अस्तित्व आदि सभी अवस्थाओं से परे होने से अविकारी है। वह तो 'अवध्य' है सबके शरीर भले ही नष्ट हो जाए आत्मा कभी भी नष्ट नहीं हो सकता। इस स्थिति में तुम युद्ध में भीष्म, द्रोण आदि की सम्भावित मृत्यु अर्थात् शरीरनाश को उनका नाश समझकर शोक मत करो। ऐसा समझना तुम्हारी भूल है तभी मैंने तुम्हें 'अशोच्या.......' (श्लोक 11) कहा था।

इस प्रकार 12 वें से 30 वें श्लोक तक भगवान् ने अर्जुन को आत्मा की नित्यता और निर्विकारता का उपदेश देकर समझाया कि उसके लिए शोकवश युद्ध से विमुख होना उचित नहीं है।

टिप्पणी—अवध्यः-न वध्यः अवध्यः (नञ् तत्पुरुष)। वध्यः-√वध्+यत्।

शाङ्करभाष्य—अथ इदानीं प्रकरणार्थम् उपसंहरन् ब्रूते-

देही शरीरी नित्यं सर्वदा सर्वावस्थासु अवध्यो निरवयवत्वाद् नित्यत्वात् च तत्र अवध्यः अयं देहे शरीरे सर्वस्य सर्वगतत्वात् स्थावरादिषु स्थितः अपि। सर्वस्य प्राणिजातस्य देहे वध्यमामे अपि अयं देही न वध्यो यस्मात् तस्माद् भीष्मादीनि सर्वाणि भूतानि उद्दिश्य न त्वं शोचितुम् अर्हसि। (30)

Eng. Tran.—

The dweller in the body of every one, O Bhārata (Arjuna), is eternal and can never be slain. Therefore, thou shouldst not grieve for any creature. (30)

• • •

कर्तव्य की दृष्टि से भी युद्ध छोड़ना अनुचित है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।। ३१।।

अन्वय और अर्थ—स्वधर्मम्=अपने धर्म (कर्तव्य)को, **अवेक्ष्य**=देखकर, **अपि च**=भी, (**त्वम्**=तुम), **विकम्पितुम्**=विचलित होने के, **न अर्हसि**=योग्य नहीं हो।

धर्म्यात्=धर्मानुकूल, **युद्धात्**=युद्ध से बढ़कर, **हि**=निःसन्देह, **श्रेयः**=कल्याणकारी, **अन्यत्**=दूसरा कोई (साधन), **क्षत्रियस्य**=क्षत्रिय के लिए, **न विद्यते**=नहीं होता है।

व्याख्या–इस श्लोक से लेकर आगामी सात श्लोकों में भगवान् अर्जुन के प्रज्ञावाद का निराकरण करते हुए उसे समझा रहे हैं कि उसके लिए लौकिक दृष्टि से भी युद्ध छोड़ना उचित नहीं है। इनमें स्वधर्म, प्रतिष्ठा, क्षत्रिय का स्वाभिमान और लोकनिन्दा आदि लौकिक दृष्टि के कतिपय महत्त्वपूर्ण पक्षों की चर्चा है। प्रथमतः प्रस्तुत श्लोक में 'स्वधर्म' की बात की गयी है। स्वधर्म को सामान्यतः 'वर्णाश्रम धर्म' कह सकते हैं। यह मानवीय आचार-विचार का मूल आधार और आध्यात्मिक बोध का प्रथम सोपान है। वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार किसी कार्यक्षेत्र में स्वधर्म का निर्वाह करने से व्यक्ति जीवन के उच्चतम पद तक पहुँच सकता है। स्वधर्म का अधिक स्पष्टीकरण भगवान् ने चतुर्थ अध्याय में किया है। भगवान् स्वयं वर्णाश्रम-धर्म के स्रष्टा है (4.13)। सर्वप्रथम बुद्धिमान् मनुष्यों का वर्ग आता है जो सतोगुणी होने से 'ब्राह्मण' कहलाता है। द्वितीय प्रशासक वर्ग है जो रजोगुणी होने के कारण 'क्षत्रिय' कहा जाता है। तीसरा वणिक वर्ग है जो रजोगुण और तमोगुण के मिश्रण से युक्त होता है और 'वैश्य' कहलाता है। चौथा श्रमिक वर्ग है जो तमोगुणी होता है और 'शूद्र' कहलाता है। मानव समाज के चार वर्ग सामाजिक व्यवस्था के चार स्तम्भ जैसे हैं जिनका अपना-अपना महत्त्व है। यह विभाजन मनुष्यों के गुण और स्वभाव के आधार पर किया गया है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत क्षत्रिय को प्रजापालन का विशेष अधिकारी बताया गया है। स्वधर्म अर्थात् अपने कर्तव्य के निर्वाह के लिए उसे युद्ध जैसा क्रूर कर्म भी करना पड़े तो उसे उससे विमुख नहीं होना चाहिए। प्रजा की रक्षा के लिए किया जा रहा युद्ध क्षत्रिय के लिए उसका परम कर्तव्य है, उसका यह धर्म है। अर्जुन आदि पाण्डवों का दुर्योधन आदि कौरवों के साथ होने वाला युद्ध ऐसा हो धर्म-युद्ध है।

भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि तुम्हारा युद्ध से विचलित होना स्वधर्म की दृष्टि से भी अनुचित है। किसी क्षत्रिय के लिए धर्मयुद्ध से बढ़कर कुछ भी श्रेयस्कर कार्य नहीं होता है क्योंकि यही वह अवसर है जिसके द्वारा वह अपने कर्तव्य का पूर्णतया निर्वाह कर पाता है। ऐसे धर्मयुद्ध में मृत्यु होने पर वीर योद्धा को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। अतएव धर्मानुकूल होने के कारण कर्तव्य युद्ध छोड़ना तुम्हारे लिए कल्याणकारी नहीं है।

टिप्पणी–**अवेक्ष्य**-अव+√ईक्ष् (देखना)+ल्यप्। **स्वधर्मम्**- स्वस्य धर्मम् (षष्ठी तत्पुरुष)। **विकम्पितुम्**-वि+√कम्प् (काँपना)+तुमुन्। **धर्म्यात्**-धर्म+यत्-धर्म्यम्, पञ्चमी एक०। **विद्यते**-√विद् (होना), लट्, प्र०पु० एक०।

शाङ्करभाष्य–इह परमार्थतत्त्वापेक्षायां शोको मोहो वा न सम्भवति इति उक्तम्, न केवलं परमार्थतत्त्वापेक्षायाम् एव किन्तु–

स्वधर्मम् अपि स्वो धर्मः क्षत्रियस्य युद्धं तम् अपि अवेक्ष्य त्वं न विकम्पितुं प्रचलितुं न अर्हसि; स्वाभाविकाद् धर्माद् आत्मस्वाभाव्याद् इति अभिप्रायः। तत् च युद्धं पृथिवीजयद्वारेण धर्मार्थं प्रजारक्षणार्थं च इति धर्माद् अनपेतं परं धर्म्यं तस्माद् धर्म्याद् युद्धात् श्रेयः अन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते हि यस्मात्। (31)

Eng. Tran.—

Further, having regard for thine own duty, thou shouldst not falter, there exists no greater good for a *Kṣatriya* (warrior) than a battle enjoined by duty. (31)

• • •

क्षत्रियों के लिए धर्मयुद्ध स्वर्ग का द्वार है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।। ३२।।

अन्वय और अर्थ–पार्थ=हे पृथापुत्र!, **यदृच्छया च**=अपने आप ही, **उपपन्नम्**=प्राप्त हुए, **अपावृतम्**=खुले हुए, **स्वर्गद्वारम्**=स्वर्ग के दरवाजे जैसे, **ईदृशम्**=इस तरह के, **युद्धम्**=युद्ध को, **सुखिनः**=अत्यन्त सुखी, **क्षत्रियाः**= क्षत्रिय लोग (ही), **लभन्ते**=प्राप्त करते हैं।

व्याख्या–क्षत्रिय के लिए धर्मयुद्ध श्रेयस्कर है अतएव अर्जुन को उसे नहीं छोड़ना चाहिए। इसी बात को आगे बढ़ाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह युद्ध तुम्हें बिना मांगे अनायास स्वयं प्राप्त हुआ है। तुम्हें इस युद्ध में दैवेच्छा से लड़ना पड़ रहा है, तुमने इसे नहीं चाहा था। इस प्रकार का युद्ध क्षत्रियों के लिए स्वर्ग के खुले दरवाजे जैसा अभिनन्दनीय हुआ करता है क्योंकि इसमें भाग लेकर न केवल वह अपना कर्तव्य निभाता है अपितु विजय पर राज्य-सुख और युद्ध-भूमि में मृत्यु पर स्वर्ग की प्राप्ति भी करता है। इस युद्ध को करने से उसको दोनों स्थितियों में लाभ ही मिलता है।

ऐसा युद्ध पाने वाले क्षत्रिय बड़े सुखी हुआ करते हैं। इसलिए अर्जुन! युद्ध से भागने की बातें तुम्हारे लिए लौकिक दृष्टि के अनुसार क्षत्रिय के कर्तव्य को ध्यान में रखकर भी सर्वथा अनुचित और त्याज्य हैं। अतः इस अज्ञानता को छोड़कर अपने कर्तव्य युद्ध में लग जाओ।

टिप्पणी–उपपन्नम्-उप+√पद् (प्राप्त करना)+क्त। **अपावृतम्**-अप+आ+√वृ (ढकना)+क्त। **सुखिन:**-सुख+ इन् (मत्वर्थीय)। **लभन्ते**-√लभ् (पाना), लट्, प्र०पु० बहु०। **स्वर्गद्वारम्**-स्वर्गस्य द्वारम् (षष्ठी तत्पुरुष)।

शाङ्करभाष्य–कुत: च तद् युद्धं कर्तव्यम् इति उच्यते–

यदृच्छया च अप्रार्थितया उपपन्नम् आगतं स्वर्गद्वारम् अपावृतम् उद्घाटितं ये तद् ईदृशं युद्धं लभन्ते क्षत्रिया: हे पार्थ किं न सुखिन: ते। (32)

Eng. Tran.—

Happy are the *Kṣatriyas*, O Pārtha (Arjuna), for whom such a war comes of its own accord as an open door to heaven. (32)

• • •

युद्ध छोड़ने पर अपयश के भागी बनोगे।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
तत: स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।। ३३ ।।

अन्वय और अर्थ–अथ चेत्=और अगर, **त्वम्**=तुम, **इमम्**=इस, **धर्म्यम्**=धर्मानुकूल, **सङ्ग्रामम्**=युद्ध को, **न**=नहीं, **करिष्यसि**=करोगे, **तत:**=तब, **स्वधर्मं**=अपने धर्म को, **कीर्तिं च**=और कीर्ति को, **हित्वा**=खोकर, **पापम्**=पाप को, **अवाप्स्यसि**=प्राप्त करोगे।

व्याख्या–युद्ध न छोड़ने पर बल देते हुए भगवान् इस श्लोक में अर्जुन को युद्ध छोड़ने की दो हानियां बता रहे हैं। यदि तुम इस शास्त्रानुमोदित और धर्मानुसार करने योग्य युद्ध को नहीं करोगे, तो तुम न केवल अपने धर्म से, अपने कर्तव्य से च्युत होगे, अपितु एक वीर योद्धा के रूप में अपनी बनी बनाई प्रतिष्ठा से भी हाथ धो बैठोगे। तुमने यदि दैववश प्राप्त हुए इस 'धर्म्य' युद्ध की उपेक्षा की और इसे छोड़ कर रणभूमि से वापस चले गये तो अपने कर्तव्य को न करने के कारण तुम पाप के भागी बनोगे। इसके अतिरिक्त अपने पराक्रम और शूरवीरता के कारण अब तक तुमने क्षत्रियवर्ग में, जो कीर्ति हासिल की है वह मिट्टी में मिल जाएगी। अर्जुन प्रसिद्ध योद्धा है, उसने अनेक कठिन युद्धों में विजय प्राप्त की हुई है। शिवजी को युद्ध द्वारा प्रसन्न कर 'पाशुपतास्त्र' प्राप्त किया है। न केवल मनुष्य और असुर अपितु देवताओं में भी उसके पराक्रम का यश फैला हुआ है। तभी भगवान् कहते हैं कि अब यदि तुमने इस तरह युद्ध की (अकारण) उपेक्षा की तो लोगों में स्थापित तुम्हारी प्रतिष्ठा और ख्याति की

हानि हो जाएगी। युद्ध करने से नहीं, अपितु युद्ध से पलायन करने के कारण तुम नरक के भागी बनोगे।

टिप्पणी–हित्वा-√हा (त्यागना)+क्त्वा। **करिष्यसि**-√कृ (करना), लृट्, म०पु०एक०। **अवाप्स्यसि**-अव+√आप् (प्राप्त करना), लृट्, म०पु०एक०।

शाङ्करभाष्य–एवं कर्तव्यताप्राप्तम् अपि–

अथ चेत् त्वम् इमं धर्म्यं धर्माद् अनपेतं सङ्ग्रामं युद्धं न करिष्यसि चेत् ततः तदकरणात् स्वधर्मं कीर्तिं च महादेवादिसमागमनिमित्तां हित्वा केवलं पापम् अवाप्स्यसि। (33)

Eng. Tran.—

But if thou doest not this lawful battle, then thou wilt fail thy duty and glory and will incur sin. (33)

• • •

लोग तुम्हारी निन्दा करेंगे।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।।३४।।

अन्वय और अर्थ–च=और, **भूतानि**=सभी लोग, **ते**=तुम्हारे, **अव्ययाम्**=सदा रहने वाले, **अकीर्तिम्**=अपयश को, **अपि**=भी, **कथयिष्यन्ति**=कहते रहेंगे। **सम्भावितस्य च**=और सम्मानित व्यक्ति के लिए, **अकीर्तिः**=अपयश, **मरणात्**=मृत्यु से भी, **अतिरिच्यते**=अधिक (कष्टकर) होता है।

व्याख्या–भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को लौकिक दृष्टि से युद्ध छोड़ना अनुचित बताते हुए इस श्लोक के द्वारा एक दूसरे महत्त्वपूर्ण तथ्य पर प्रकाश डाला है। इस धर्म्य युद्ध से तुम्हारे विमुख होने पर तुम्हारी लोकनिन्दा भी बहुत होगी। धर्मात्मा और शूरवीर के रूप में जो तुम्हारा लोगों में सम्मान है वह समाप्त हो जाएगा और उसके स्थान पर सब लोग एक डरपोक और कायर के रूप में तुम्हारी निन्दा करने लगेंगे। तुम्हारा यह अपयश और लोकनिन्दा युगों युगों तक चलती रहेगी। सदा चलने वाली इस लोक-निन्दा और अपयश से तुम्हें जो लज्जा होगी उससे क्या तुम्हारा जीवन जीने योग्य रहेगा। समाज में प्रतिष्ठित और सम्मानित व्यक्ति के लिए उसकी अकीर्ति मृत्यु से भी बढ़कर होती है। अपयश व्यक्ति को इतना कष्टकारी होता है कि वह उसकी तुलना में मृत्यु को कम समझता है। अतः भगवान् का संकेत है कि प्रतिष्ठा, और कीर्ति की दृष्टि

से ही नहीं अपितु लोकनिन्दा से बचने के लिए भी तुम्हें युद्ध से विचलित होना उचित नहीं है।

टिप्पणी–कथयिष्यन्ति-√कथ् (कहना), लृट्, प्र०पु०बहु०। **अव्ययाम्**-न व्ययाम् अव्ययाम् (नञ् तत्पुरुष)। **अकीर्तिम्**-न कीर्तिम् अकीर्तिम् (नञ् तत्पुरुष)। **अतिरिच्यते**-अति+√रिच् (वञ्जित करना), लट्, प्र०पु० एक०।

शाङ्करभाष्य–न केवलं स्वधर्मकीर्तिपरित्यागः-

अकीर्तिं च अपि भूतानि कथयिष्यन्ति ते तव अव्ययां दीर्घकालाम्। धर्मात्मा शूर इति एवमादिभिः गुणैः सम्भावितस्य च अकीर्तिः मरणाद् अतिरिच्यते। सम्भावितस्य च अकीर्तेः वरं मरणम् इत्यर्थः। (34)

Eng. Tran.—

Besides, men will ever recount thy ill-fame and for one who has been honoured, ill-fame is worse than deeth. (34)

• • •

लोगों की दृष्टि में तुम छोटे हो जाओगे।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्।। ३५।।

अन्वय और अर्थ–महारथाः=बड़े=बड़े योद्धा, **त्वाम्**=तुम को, **भयात्**=भय से, **रणात्**=युद्ध-भूमि से, **उपरतम्**=विमुख, **मंस्यन्ते**=मानेंगे; **च**=और, **येषाम्**=उनके, **त्वम्**=तुम, **बहुमतः**=अत्यन्त सम्मानित, **भूत्वा**=होकर, (**इदानीम्**=अब), **लाघवम्**=तुच्छता को, **यास्यसि**=प्राप्त हो जाओगे।

व्याख्या–भगवान् ने अर्जुन को बताया कि लोकनिन्दा से बचने के लिए भी उसका युद्ध से विमुख होना उचित नहीं है। उसी बात को आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं कि कर्ण, दुर्योधन आदि महान् योद्धा तुम्हारे हृदय में उमड़ रही करुणा को नहीं पहचानेंगे अपितु यही मानेंगे कि तुम भय के कारण युद्ध से पलायन कर रहे हो। अभी तक वे तुम्हारी शूरवीरता और रणकौशल की चर्चा करते थे, किन्तु अब वे तुम्हारे पलायन का वर्णन करते नहीं थकेंगे। जो तुम्हारे योद्धा रूप के प्रति सम्मान भावना रखते थे वे अब तुम्हारी निन्दा करेंगे और तुम्हें बहुत छोटी नजर से देखेंगे। इसलिए तुम्हें अपना हथियार उठाकर युद्ध में प्रवृत्त हो जाना चाहिए।

टिप्पणी–महारथाः-महान्तः रथाः येषां ते महारथाः (बहुव्रीहि)। **बहुमतः**-बहुभिः मतः (तृतीया तत्पुरुष)। **उपरतम्**-उप+√रम् (बना रहना)+क्त। **मंस्यन्ते**-√मन् (जानना), लृट्, प्र०पु०बहु०। **यास्यसि**-√या(गमन करना), लृट्, म०पु०एक०।

शाङ्करभाष्य–किं च–भयात् कर्णादिभ्यो रणाद् युद्धाद् उपरतं निवृत्तं मंस्यन्ते चिन्तयिष्यन्ति न कृपया इति त्वां महारथा दुर्योधनप्रभृतयः। येषां च त्वं दुर्योधनादीनां बहुमतो बहुभिः गुणैः युक्त इति एवं बहुमतो भूत्वा पुनः यास्यसि लाघवं लघुभावम्। (35)

Eng. Tran.—

The great warriors will think that thou hast abstained from battle through fear and they by whom thou wast highly esteemed will make light of thee. (35)

• • •

शत्रु निन्दा में न कहने योग्य बातें कहेंगे।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।। ३६।।

अन्वय और अर्थ–च=और, **तव**=तुम्हारे, **सामर्थ्यम्**=सामर्थ्यम् की, **निन्दन्तः**=निन्दा करते हुए, **तव**=तुम्हारे, **अहिताः**=शत्रु, **बहून्**=अनेक, **अवाच्यवादान्**=न कहने योग्य बातों को, **वदिष्यन्ति**=कहेंगे, **ततः**=उसकी अपेक्षा, **दुःखतरम्**=अधिक दुःखदायी, **नु**= निस्सन्देह, **किम्**=क्या, (**स्यात्**=कुछ और होगा?)

व्याख्या–युद्ध से विमुख होने पर अर्जुन की तरह-तरह से निन्दा होगी। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से पुनः कहते हैं कि तुम्हारे शत्रु केवल युद्ध से तुम्हारे पलायन की ही निन्दा नहीं करेंगे अपितु वे तुम्हारे लिए तरह-तरह की न कहने योग्य बातें भी कहेंगे। जो तुम्हारा हित चाहते हैं और तुमसे प्रेम करते हैं वे भीष्म आदि तो भले ही तुम्हारे लिए बुरा न कहें किन्तु जो तुम्हारा अहित चाहने वाले कर्ण, दुर्योधन आदि हैं वे तो तुम्हारे गुणों में भी दोष देखते हैं अतः वे युद्ध से तुम्हारी विमुखता को देखकर चुप नहीं रहेंगे। नित्यप्रति उनके द्वारा फैलायी जा रही अपनी निन्दा को जानकर क्या तुम्हें अधिक कष्ट और दुःख नहीं होगा। ये सब बातें भी ध्यान में लाओ और युद्ध से विमुख होने का विचार मन से निकाल दो। युद्ध न करने का निश्चय अनेक दृष्टियों से तुम्हारे लिए अहितकारी ही है।

टिप्पणी–सामर्थ्यम्-समर्थस्य भावः, समर्थ+ष्यञ्; शक्ति, क्षमता। **अहिताः**-न

हिता: अहिता: (नञ् तत्पुरुष)। **अवाच्यवादान्**-अवाच्याश्च ये वादास्तान् (कर्मधारय)। **निन्दन्त:**-√निन्द् (निन्दा करना)+शतृ, प्र०पु० बहु०।

शाङ्करभाष्य–किं च-अवाच्यवादान् अवक्तव्यवादान् च बहून् अनेकप्रकारान् वदिष्यन्ति तव अहिता: शत्रवो निन्दन्त: कुत्सयन्त: तव त्वदीयं सामर्थ्यं निवातकवचादियुद्धनिमित्तम्। तस्मात् ततो निन्दाप्राप्ते: दु:खाद् दु:खतरं नु किम्। तत: कष्टतरं दु:खं न अस्ति इत्यर्थ:। (36)

Eng. Tran.—

Many unseemly words will be uttered by thy enemies, slandering thy strength. Could anything be sadder than that? (36)

• • •

युद्ध में मरोगे तो स्वर्ग पाओगे और जीतोगे तो राज्य-सुख।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चय: ।। ३७।।

अन्वय और अर्थ–**कौन्तेय**=हे कुन्तीपुत्र, **हत:**=मारे जाने पर, **वा**=या तो, (**त्वम्**=तुम), **स्वर्गम्**=स्वर्गलोक को, **प्राप्स्यसि**=प्राप्त करोगे; **वा**=अथवा, **जित्वा**=विजयी होकर, **महीम्**=पृथ्वी को, **भोक्ष्यसे**=भोगोगे; **तस्मात्**=अत:, **युद्धाय**= लड़ने के लिए, **कृतनिश्चय:**=दृढ़ निश्चय करके, **उत्तिष्ठ**=उठो।

व्याख्या–भगवान् अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए एक और युक्ति दे रहे है-युद्ध करने पर तुम्हें किसी भी प्रकार की हानि नहीं होगी, अपितु हर स्थिति में लाभ ही होगा। युद्ध के सामान्यतया दो ही परिणाम होते हैं–हार अथवा जीत। हे अर्जुन! यदि तुम युद्ध में मारे गये तो युद्ध में वीरगति को प्राप्त करने से सीधे स्वर्ग को जाओगे। यह धर्म्य युद्ध है जो दुर्योधन आदि आततायियों से प्रजारक्षण और अपने अधिकार की प्राप्ति के लिए किया जा रहा है। यदि इस युद्ध में तुम वीरगति को प्राप्त हुए और मारे गये तो तुम्हें स्वर्ग मिलेगा। तुम्हारा शत्रुपक्ष प्रबल है पर इतना भी नहीं कि तुम्हें हरा सके। अत: तुम्हारी विजय की सम्भावना भी कम नहीं है। यदि तुमने शत्रुओं को परास्त कर दिया तो सारा निष्कण्टक राज्य तुम्हारा होगा। तुम पृथ्वीमण्डल पर सुखपूर्वक राज्य भोगोगे। अत: दोनों ही स्थितियों में तुम्हारा कल्याण है। तुम्हें तो 'कार्यं वा साधयेयं देहं वा पातयेयम्' का दृढ़ निश्चय करके युद्ध के लिए खड़े हो जाना चाहिए।

'कौन्तेय' सम्बोधन द्वारा भगवान् अर्जुन को याद दिलाना चाहते हैं कि तुम माता कुन्ती के पुत्र हो अतः उनकी आशाओं के अनुरूप आचरण करो।

टिप्पणी–**हतः**-√हन् (मारना)+क्त। **प्राप्स्यसि**-प्र+√आप् (पाना), लृट्, म०पु०एक०। **जित्वा**-√जि (जीतना)+क्त्वा। **भोक्ष्यसे**-√भुज् (भोग करना, पालन करना), लृट्, म०पु०एक०। **उत्तिष्ठ**-उत्+√स्था (तिष्ठ्-बैठना), लोट्, म०पु०एक०। **कौन्तेय**-कुन्त्या अपत्यम् कौन्तेय। **कृतनिश्चयः**-कृतः निश्चयः येन सः (बहुव्रीहि)।

शाङ्करभाष्य–युद्धे पुनः क्रियमाणे कर्णादिभिः-

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं हतः सन् स्वर्गं प्राप्स्यसि जित्वा वा कर्णादीन् शूरान् भोक्ष्यसे महीम्। उभयथा अपि तव लाभ एव इति अभिप्रायः। यत एवं तस्माद् उत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयो जेष्यामि शत्रून् मरिष्यामि वा इति निश्चयं कृत्वा इत्यर्थः। (37)

Eng. Tran.—

Either slain thou shalt go to heaven; or victorious thou shalt enjoy the earth; therefore arise, O Son of Kuntī (Arjuna), resolved on battle. (37)

• • •

सुख और दुःख को बराबर समझकर युद्ध करो।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।। ३८।।

अन्वय और अर्थ–**सुखदुःखे**=सुख और दुःख को, **लाभालाभौ**=लाभ और हानि को, **जयाजयौ**=जय और पराजय को, **समे**=समान, **कृत्वा**=मानकर, **ततः**=तब, **युद्धाय**=युद्ध के लिए, **युज्यस्व**=तैयार हो, **एवम्**=इस प्रकार, **पापम्**=पाप को, **न**=नहीं, **अवाप्स्यसि**=प्राप्त होगे।

व्याख्या–स्वजनों की मृत्यु की चिन्ता के कारण शोक और मोह से अभिभूत होकर अर्जुन ने अपने कर्तव्य 'युद्ध' से विमुख होने की बात की। भगवान् श्रीकृष्ण ने उसके शोक के निराकरण के लिए उसे आत्मज्ञान का जो उपदेश दिया उसे 'ज्ञानयोग' या 'ज्ञानमार्ग' कहते हैं। अनन्तर उन्होंने प्रतिष्ठा, लोकनिन्दा आदि का उल्लेख करते हुए अर्जुन को बतलाया कि सांसारिक दृष्टि से भी युद्ध छोड़ना उसके लिए अनुचित है। यह सुनिश्चित करने के बाद कि अर्जुन के लिए अपना कर्तव्य कर्म करना परम आवश्यक है, श्रीकृष्ण ने उसे समझाया कि वह कर्म को कैसे करे। उन्होंने कर्म करने

की कुशलता को निष्काम कर्मयोग के रूप में प्रतिपादित किया। यह श्लोक इसी सिद्धान्त की भूमिका जैसा है।

संसार द्वन्द्वात्मक है। प्रत्येक वस्तु के दो पक्ष हैं। प्रायः मनुष्य की सभी क्रियाएँ प्रिय-अप्रिय, अनुकूल-प्रतिकूल को ध्यान में रखकर होती हैं। जिससे उसको सुख मिलता है उससे उसको राग होता जाता है और जिससे दुःख मिलता है उससे द्वेष होता है। किसी चीज़ को पाना लाभ है, तो किसी चीज़ को न पाना 'हानि'। लाभ सुख देता है और हानि दुःख। इसी तरह जय सुख देती है और पराजय दुःख। राग और द्वेष के वशीभूत होकर जब मनुष्य कर्म करता है तो उसके अच्छे या बुरे फल उसको 'बन्धन' में बाँधते हैं। अच्छे कर्मफल 'पुण्य' कहलाते हैं और बुरे कर्मफल 'पाप'। ये कर्मफल-बन्धनकारक हैं। कर्म बन्धनकारक नहीं है। अतः कर्म किया जाये और उसका फल बन्धन न बने-यही आदर्श स्थिति है। भगवान् ने निर्देश दिया है कि कर्म को कर्तव्यबुद्धि से करना चाहिए और सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जय-पराजय में समत्व भाव रखना चाहिए। दोनों स्थितियों को बराबर समझना हीं निर्द्वन्द्व होना है। यदि अर्जुन निर्द्वन्द्व होकर युद्ध करेगा तो कदापि पाप का भागी नहीं होगा। ऐसा समझ जाने पर उसकी युद्ध के प्रति विमुखता स्वतः दूर हो जाएगी क्योंकि उसकी नासमझी ही उसके युद्ध न करने की अड़चन है।

कर्तव्यबुद्धि से अपने कर्म में प्रवृत्त होने के इस प्रासंगिक उपदेश को आगे भगवान् श्रीकृष्ण ने 'कर्मयोग' या 'योगबुद्धि' नाम से और अधिक स्पष्ट किया है।

टिप्पणी–सुखदुःखे–सुखं च दुःखं च सुखदुःखे (द्वन्द्व)। **लाभालाभौ**– लाभश्च अलाभश्च लाभालाभौ (द्वन्द्व)। **जयाजयौ**–जयश्च अजयश्च जयाजयौ (द्वन्द्व)। **युज्यस्व**–√युज् (लगाना), लोट्, म० पु० एक०। **अवाप्स्यसि**– अव+√आप् (पाना), लृट्, म० पु० एक०।

शाङ्करभाष्य–तत्र 'युद्धं स्वधर्म' इत्येवं युध्यमानस्य उपदेशम् शृणु-सुखदुःखे समे तुल्ये कृत्वा रागद्वेषौ अकृत्वा इति एतत्; तथा लाभालाभौ, जयाजयौ च समौ कृत्वा, ततो युद्धाय युज्यस्व घटस्व। न एवम् युद्धं कुर्वन्पापम् अवाप्स्यसि इत्येष उपदेशः प्रासङ्गिकः। (38)

Eng. Tran.—

Treating alike pleasure and pain, gain and loss, victory and defeat, then get ready for battle. Thus thou shall not incur sin. (38)

• • •

अब तक ज्ञानमार्ग बताया अब कर्मयोग सुनो।

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।। ३९।।

अन्वय और अर्थ–पार्थ=हे पृथापुत्र, **एषा**=यह, **बुद्धिः**=बुद्धि, **ते**=तेरे लिए, **साङ्ख्ये**=ज्ञानयोग के विषय में, **अभिहिता**=कही गयी, तु=लेकिन, **इमाम्**=इस (बुद्धि) को, **योगे**=निष्काम कर्मयोग के विषय में, **श्रृणु**=सुनो, **यया**=जिस, **बुद्ध्या**=बुद्धि से, **युक्तः**=युक्त होकर, **कर्मबन्धम्**=कर्म के बन्धन से, **प्रहास्यसि**=मुक्त हो जाओगे।

व्याख्या–अर्जुन शोक और मोह से ग्रस्त होकर अपने कर्तव्य कर्म युद्ध से विमुख होने की बात करता है। भगवान् ने उसके शोक को दूर करने के लिए उसको पहले ज्ञान का उपदेश दिया कि तत्त्वतः सभी नित्य हैं अतः शोक अनुचित है। ज्ञानमार्ग को ही यहां 'साङ्ख्यबुद्धि' कहा गया है। जिससे परम तत्त्व का सम्यक् दर्शन हो वह ज्ञान 'सङ्ख्या' है। उस ज्ञान का प्रतिपाद्य 'आत्मतत्त्व' साङ्ख्य है। अतः भगवान् कहते हैं कि बारहवें से तीसवें श्लोक तक मैंने तुम्हें साङ्ख्य-बुद्धि या ज्ञान-मार्ग बताया। अब आगे 'योग-बुद्धि' बताने जा रहा हूँ। वस्तुतः योगबुद्धि को ही आगे चलकर योग, कर्मयोग, बुद्धि, धर्म, बुद्धियोग आदि नाम भी दिये गये हैं। सामान्य रूप से योगबुद्धि का अभिप्राय अधिक प्रचलित नाम 'निष्काम कर्मयोग' से ही है। भगवान् ने यही पर उसका उद्देश्य भी सार रूप में दे दिया है–यह वह मार्ग है जिस पर चलकर तुम कर्म-बन्धन का नाश करने में समर्थ हो सकते हो। वस्तुतः कर्म मनुष्य के बन्धनकारक नहीं हैं। बन्धन तो कर्मफल हैं। यदि कर्मों को बिना फल की कासना के किया जाये तो वे बन्धन नहीं बनाते। इससे चित्त के राग, द्वेष आदि विकार समाप्त हो जाते हैं और चित्त में शुद्धता उत्पन्न होती है जिससे तत्त्व-साक्षात्कार में सहायता मिलती है।

भाष्यकार आचार्य शङ्कर ने इस श्लोक के आधार पर स्पष्ट किया है कि ज्ञानमार्ग तो संसार के हेतु शोक-मोह आदि दोषों की निवृत्ति का साक्षात् उपाय है। पर उसकी प्राप्ति के उपाय के रूप में अब योग-बुद्धि का प्रतिपादन किया जा रहा है। योग-बुद्धि अर्थात् निष्काम कर्मयोग का प्रतिपादन इस श्लोक के बाद से इक्यानवें श्लोक तक किया गया है। जो लोग ज्ञानमार्ग को अपनाने में पूरी तरह से योग्य नहीं है उनके कल्याण के लिए यह कर्मयोग ही एकमात्र उपाय है।

टिप्पणी–प्रहास्यसि- प्र+√हा (छोड़ना), लृट् म०पु०एक०। **अभिहिता-** अभि+√धा (स्थापित करना)+क्त, हि आदेश, स्त्री प्रत्यय; कही गयी, घोषित।

शाङ्करभाष्य—शोकमोहापनयनाय लौकिको न्यायः 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' इत्याद्यैः श्लोकैः उक्तो न तु तात्पर्येण। परमार्थदर्शनं तु इह प्रकृतं तत् च उक्तम् उपसंहरति 'एषा तेऽभिहिता' इति शास्त्रविषयविभागप्रदर्शनाय। इह हि दर्शिते पुनः शास्त्रविषयविभागे उपरिष्टात् 'ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' इति निष्ठाद्वयविषयं शास्त्रं सुखं प्रवर्तिष्यते श्रोतारः च विषयविभागेन सुखं ग्रहीष्यन्ति इति अत आह–

एषा ते तुभ्यम् अभिहिता उक्ता साङ्ख्ये परमार्थवस्तुविवेकविषये बुद्धिः ज्ञानं साक्षात् शोकमोहादिसंसारहेतुदोषनिवृत्तिकारणम्। योगे तु तत्प्राप्त्युपाये निःसङ्गतया द्वन्द्वप्रहाणपूर्वकम् ईश्वराराधनार्थे कर्मयोगे कर्मानुष्ठाने समाधियोगे च इमाम् अनन्तरम् एव उच्यमानां बुद्धिं शृणु। तां बुद्धिं स्तौति प्ररोचनार्थम्–बुद्ध्या यया योगविषयया युक्तो हे पार्थ कर्मबन्धं कर्म एव धर्माधर्माख्यो बन्धः कर्मबन्धः तं प्रहास्यसि ईश्वरप्रसादनिमित्तज्ञानप्राप्तेः इति अभिप्रायः। (39)

Eng. Tran.—

This is the wisdom of the Sāṁkhya given to thee, O Pārtha (Arjuna). Listen now to the wisdom of the Yoga. If your intelligence accepts it, thou shalt cast away the bondage of works. (39)

• • •

कर्मयोग कभी व्यर्थ नहीं जाता।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।। ४०।।

अन्वय और अर्थ—**इह**=इस योग में, **अभिक्रमनाशः**=आरम्भ का नाश, **न**=नहीं, **अस्ति**=है और, **प्रत्यवायः**=उल्ट्य फल रूप दोष भी, **न**=नहीं, **विद्यते**=है। **अस्य**=इस, **धर्मस्य**=धर्म का, **स्वल्पम्**=थोड़ा, **अपि**=भी, **महतः**=महान्, **भयात्**=भय से, **त्रायते**=मुक्त करता है।

व्याख्या—कर्मयोग का प्रतिपादन करने से पूर्व साधक में रुचि बढ़ाने के लिए भगवान् ने पिछले श्लोक में उसका फल कर्मबन्धन की हानि बताया। अब यहाँ 'कर्मयोग' की एक विशेषता और बता रहे हैं। प्रायः सांसारिक कर्मों में दो प्रकार के दोष देखे जाते हैं-(1) प्रारम्भ किये गये किसी कार्य का फल मिलता है और किसी का नहीं, यही 'अभिक्रमनाश' रूप दोष है। जैसे कृषक बड़े परिश्रम से खेती करता है,

पर कभी फसल पूरी नहीं होती और प्रारम्भ किया गया कार्य भी नष्ट हो जाता है। (2) कभी कार्य का उल्टा फल प्राप्त होता है। यही 'प्रत्यवाय' रूप दोष है। वैद्य रोगी की चिकित्सा स्वस्थ होने के लिए करता है पर कभी-कभी ठीक होने के विपरीत रोगी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। 'कर्मयोग' में ये दोष नहीं होते। इस योग में तो जितना भी सिद्ध कर लिया जाए उतने का उतना लाभ मिल जाता है और विपरीत फल तो कभी प्राप्त होता ही नहीं।

वस्तुतः कर्मयोग निष्काम भावना से कर्मों को करना है। यह सकाम तो होता ही नहीं। इसका एक ही फल है-साधक के अन्तःकरण की शुद्धि करना और उसे ज्ञान की उत्पत्ति के योग्य बनाना। यह फल उसे निर्विघ्न और निश्चित रूप से मिलता है। यदि इस मार्ग का वह थोड़ा भी आचरण करता है तो उतना ही लाभ पा जाता है। अल्परूप में किया गया निष्काम कर्मयोग न व्यर्थ जाता है और न उल्टा फल देता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने इसकी प्रशंसा करते हुए यहाँ कहा है कि इस मार्ग का थोड़ा सा आचरण भी संसार के सबसे बड़े भय 'जन्म और मृत्यु के चक्र' से मुक्त करता है। फलेच्छा को छोड़कर किये जा रहे कर्म चित्त की शुद्धि के साधन बनते हैं–फलेच्छां तु परित्यज्य कृतं कर्म विशुद्धिकृत्। (छान्दा०उप० 8.1.6)।

टिप्पणी–अभिक्रमनाशः-अभिक्रमस्य नाशः। अभिक्रम-प्रारम्भ, अभिक्रमण। शङ्कराचार्य ने लिखा है कि 'योग विषयक प्रारम्भ का फल अनैकान्तिक अर्थात् संशययुक्त नहीं हैं'। **प्रत्यवायः**-प्रति+अव+√अय् (जाना)+घञ्; ह्रास, न्यूनता, विरुद्ध या विपरीत होना; जो नहीं है उसका उत्पन्न होना। **धर्मस्य**-योगधर्म या कर्मयोग ही यहाँ 'धर्म' कहा गया है। **त्रायते**-√त्रै (रक्षा करना), लट्, प्र०पु०एक०।

शाङ्करभाष्य–किं च अन्यत्–न इह मोक्षमार्गे कर्मयोगे अभिक्रमनाशः अभिक्रमणम् अभिक्रमः प्रारम्भः तस्य नाशो न अस्ति यथा कृष्यादेः। योगविषये प्रारम्भस्य न अनैकान्तिकफलत्वम् इत्यर्थः। किं च न अपि चिकित्सावत् प्रत्यवायो विद्यते। किं तु भवति। स्वल्पम् अपि अस्य योगधर्मस्य अनुष्ठितं त्रायते रक्षति महतः संसारभयात् जन्ममरणादिलक्षणात्। (40)

Eng. Tran.—

In this path, no effort is ever lost and no obstacle prevails; even a little of this righteousness (*dharma*) saves from great fear. (40)

• • •

तत्त्वज्ञान एकात्मक, अज्ञान अनेकात्मक।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।। ४१।।

अन्वय और अर्थ–कुरुनन्दन=हे कुरुओं को प्रसन्न करने वाले!, **इह**=इस संसार में, **व्यवसायात्मिका**=निश्चयात्मिका, **बुद्धिः**=बुद्धि, **एका**=एक, **हि**=ही है, **च**=और, **अव्यवसायिनाम्**=निश्चय से रहित (अज्ञानी पुरुषों)की, **बुद्धयः**=बुद्धियाँ, **बहुशाखाः**=अनेक शाखाओं में विभक्त, **अनन्ताः**=(और) अनन्त होती हैं।

व्याख्या–कर्मयोग की प्रशंसा और प्रस्तावना के रूप में भगवान् श्रीकृष्ण अब बतलाते हैं, कि वास्तव में कर्मयोग ज्ञानयोग की ओर ले जाने वाला एक मार्ग ही है। इसका ज्ञानयोग से कोई विरोध नहीं है। भगवान् कहते हैं–हे अर्जुन! इस संसार में मनुष्य अपने मन से सङ्कल्प करता है और बुद्धि से निश्चय (अध्यवसाय)। सङ्कल्पात्मक ज्ञान अनेकरूप होता है और बुद्धि का कार्य अध्यवसाय एकरूप होता है। पारलौकिक दृष्टि से देखें तो वास्तविक 'तत्त्व' आत्मा एक है और संसार के विकार अनेक हैं। अतः तत्त्वज्ञान एक रूप है और संसार के अज्ञानपरक ज्ञान अनेकरूप हैं। इन्द्रियां और मन से होने वाले ज्ञान सांसारिक ज्ञान हैं, अतः वे अनेक रूप हैं और भेदमूलक हैं। आत्मा का ज्ञान अज्ञान की समाप्ति पर होता है और समस्त भेदों का अन्त करता है। तत्त्वज्ञानी को सर्वत्र एक आत्मा की प्रतीति होती है–'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप में वह सर्वत्र एक आत्मा या ब्रह्म का अनुभव करता है। इस अनुभूति में नानात्व और भेद-भाव समाप्त हो जाता है। वास्तव में अभेददर्शन तत्त्वदर्शन है और भेददर्शन अज्ञान है। पहला आत्मज्ञान का रूप है और दूसरा संसार का प्रतिरूप। भेदज्ञान के कारण ही संसार अन्तरहित विस्तार वाला प्रतीत होता है। संक्षेप में भगवान् का आशय यह समझाना है कि ज्ञानयोग हो या कर्मयोग-दोनों का उद्देश्य व्यवसायात्मिका बुद्धि तक पहुँचाना है और वह तो एकरूप ही है। अतः कर्मयोग ज्ञानयोग से पृथक् मार्ग नहीं है।

भगवान् ने यहाँ विशेष अभिप्राय से अर्जुन को 'कुरुनन्दन' सम्बोधन दिया है। (1) तुम कुरुवंश में उत्पन्न हुए हो अतः अपने पराक्रम के कार्यों द्वारा वंश का यश बढ़ाओ और कुरुवंशियों को प्रसन्न करो, (2)तुम अपने अज्ञान के कारण से जो आचरण कर रहे हो उसे देखकर कौरवों को अत्यन्त प्रसन्नता होगी। अतः ज्ञान और अज्ञान के स्वरूप को समझकर उचित निर्णय लो।

टिप्पणी–कुरुनन्दन-कुरून् नन्दयति इति कुरुनन्दनः। नन्दन-√नन्द् (प्रसन्न

होना)+णिच्+ल्यु, आनन्द देने वाला। **व्यवसायात्मिका**-शङ्कर-निश्चय (व्यवसाय) स्वभाव वाली। **अव्यवसायिनाम्**-शङ्कर-प्रमाणजनित विवेक बुद्धि से रहितों की; सकाम कर्म करने वाले, अज्ञानी जनों की।

शाङ्करभाष्य—या इयं साङ्ख्ये बुद्धिः उक्ता योगे च वक्ष्यमाणलक्षणा सा–

व्यवसायात्मिका निश्चयस्वभावा एका एव बुद्धिः इतरविपरीतबुद्धिशाखाभेदस्य बाधिका सम्यक्प्रमाणजनितत्वाद् इह श्रेयोमार्गे हे कुरुनन्दन। याः पुनः इतरा बुद्धयो यासां शाखाभेदप्रचारवशाद् अनन्तः अपारः अनुपरतः संसारो नित्यप्रततो विस्तीर्णो भवति, प्रमाणजनितविवेकबुद्धिनिमित्तवशात् च उपरतासु अनन्तभेदबुद्धिषु संसारः अपि उपरमते।

ता बुद्धयो बहुशाखा बह्व्यः शाखा यासां तां बहुशाखा बहुभेदा इति एतत्। प्रतिशाखा-भेदेन हि अनन्ताः च बुद्धयः केषाम् अव्यवसायिनां प्रमाणजनितविवेकबुद्धिरहितानाम् इत्यर्थः। (41)

Eng. Tran.—

In this, O joy of the Kurus (Arjuna), the resolute understanding is single; but the thoughts of the irresolute (undecided) are many-branched and endless. (41)

• • •

कर्मवादी कर्मचक्र में फँसाने वाली बातें करते हैं।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।४२।।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।४३।।

अन्वय और अर्थ—पार्थ=हे पार्थ!, **कामात्मानः**=सकामी, **वेदवादरताः**=वेदों के अनुयायी, **स्वर्गपराः**=स्वर्ग को परम समझने वाले, **अन्यत्**=अन्य कुछ, **न**=नहीं, **अस्ति**=है, **इति**=इस प्रकार, **वादिनः**=बोलने वाले, **अविपश्चितः**=अल्पज्ञ व्यक्ति, **जन्मकर्मफलप्रदाम्**=ज़न्म रूप कर्मफल को देने वाली, **भोगैश्वर्यगतिम्**=भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति, **प्रति**=के लिए, **क्रियाविशेषबहुलाम्**=विशेष क्रियाओं से विस्तार वाली, **इमाम्**=इस, **याम्**=जिस, **पुष्पिताम्**=शोभायुक्त, **वाचम्**=वाणी को, **प्रवदन्ति**=कहते हैं।

व्याख्या–निष्काम कर्मयोग में रुचि बढ़ाने के लिए पहले कर्मयोग की प्रशंसा की गयी। अब भगवान् श्रीकृष्ण पांच श्लोकों में सकाम कर्म की निन्दा कर रहे हैं। सर्वप्रथम वे इन दो श्लोकों में बताते हैं कि जिनमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं है वे कर्म को ही परम साधन समझते हैं। वे लोग 'कर्मवादी' हैं। वे वेद के कर्मकाण्ड भाग को ही परम प्रमाण मानते हैं। वेद के ब्राह्मण भाग में अनेक यज्ञ-याग और उनसे प्राप्त होने वाले फलों का विवेचन है। इन यज्ञ-विधानों के विधिवत् अनुष्ठान से होने वाली स्वर्ग-प्राप्ति का उल्लेख भी वहां है। कर्मवादी जन सकाम कर्मों से प्राप्त होने वाले इन फलों के प्रति आकर्षित रहते हैं और मानते हैं कि कर्मों का सर्वोच्च फल 'स्वर्ग' है, जिस तक इनसे पहुँचा जा सकता है। 'स्वर्ग' से ऊपर कोई फल नहीं है। अतः सांसारिक फलों को प्राप्त करके सुखी जीवन बिताने के लिए इन अनुष्ठानों का विधान करना चाहिए। विविध क्रियाओं के भेद से फलों के भेदों को दर्शाने वाली अनेकों शोभित बातें वे बढ़ा-चढ़ा कर कहा करते हैं और लोगों को सकाम कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं। परन्तु भगवान् के अनुसार ये जन अल्पबुद्धि वाले हैं। वस्तुतः वे अज्ञानी हैं। इन्होंने तो कामनाओं को ही अपना स्वभाव बना लिया है। वे भोगों में संलग्न रहते हैं और शोकरहित और सुखमय स्थान 'स्वर्ग' को परम पुरुषार्थ मानते हैं। वे ज्ञान और उससे पाये जाने वाले परम पुरुषार्थ 'मोक्ष' को नहीं जानते। भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति सकाम कर्मों से होती है। सांसारिक जीवन के सुख के लिए सकाम कर्मों को करना कुछ सीमा तक उचित भी है, परन्तु उनसे ऊपर कुछ नहीं है, यह समझना अज्ञान है। कर्म के फल 'कर्मफल' कहलाते हैं। वे सब भोग आदि के साधन होने के साथ-साथ संसार में लाने वाले जन्म-मरण-चक्र के भी कारण होते हैं। इसीलिए गीताकार ने उनको जन्मरूप कर्मफल को देने वाला बताया है। तात्पर्य है कि अव्यवसायात्मक बुद्धि वाले अज्ञानी सकाम कर्मों के प्रलोभन में फंसे रहते हैं और आवागमन-चक्र से मुक्त नहीं हो पाते। जो निश्चयात्मिका बुद्धि वाले व्यक्ति हैं, वे सकाम कर्मों के स्थान पर निष्काम कर्म करते हैं।

टिप्पणी–**पुष्पिताम्**-फूलों से युक्त वृक्षों की तरह सजी (वाणी)। **अविपश्चितः**-विप्रकृष्टं चेतति इति विपश्चित्। वि+प्र+√चित् (सचेत होना)+क्विप्। पण्डित जन। न विपश्चित् इति अविपश्चित्। **क्रियाविशेषबहुलाम्**-क्रियाणां विशेषाः क्रियाविशेषाः (षष्ठी तत्पुरुष); ते बहुला यस्याम् (वाचि) (बहुव्रीहि)।

शाङ्करभाष्य–येषां व्यवसायात्मिका बुद्धिः नास्ति ते-

याम् इमां वक्ष्यमाणां पुष्पितां पुष्पितवृक्ष इव शोभमानां श्रूयमाणरमणीयां वाचं

वाक्यलक्षणां प्रवदन्ति। के, अविपश्चित: अल्पमेधस: अविवेकिन इत्यर्थ:। वेदवादरता बह्वर्थवादफलसाधनप्रकाशकेषु वेदवाक्येषु रता:। हे पार्थ न अन्यत् स्वर्गप्राप्त्यादिफलसाधनेभ्य: कर्मभ्य: अस्ति इति एवं वादिनो वदनशीला:। (42)

ते च-कामात्मान: कामस्वभावा: कामपरा इत्यर्थ:। स्वर्गपरा: स्वर्ग: पर: पुरुषार्थो येषां ते स्वर्गपरा: स्वर्गप्रधाना जन्मकर्मफलप्रदां कर्मण: फलं कर्मफलं जन्म एव कर्मफलं जन्मकर्मफलं तत् प्रददाति इति जन्मकर्मफलप्रदा तां वाचं प्रवदन्ति इति अनुषज्यते।

क्रियाविशेषबहुलां क्रियाणां विशेषा: क्रियाविशेषा: ते बहुला यस्यां वाचि तां स्वर्गपशुपुत्राद्यर्था यया वाचा बाहुल्येन प्रकाश्यन्ते। भोगैश्वर्यगतिं प्रति भोग: च ऐश्वर्यं च भोगैश्वर्ये तयो: गति: प्राप्ति: भोगैश्वर्यगति: तां प्रति साधनभूता ये क्रियाविशेषा: तद्बहुलां तां वाचं प्रवदन्तो मूढा: संसारे परिवर्तन्ते इति अभिप्राय:। (43)

Eng. Tran.—

The undiscerning, who rejoice in the letter of the Veda, who contend that there is nothing else, whose nature is desire, and who are intent on heaven, proclaim these flowery words that result in rebirth as the fruit of actions and (lay down) various specialized rites for the attainment of enjoyment and power. (42-43)

• • •

भोग में फंसे लोगों को तत्त्वज्ञान नहीं।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धि: समाधौ न विधीयते।। ४४।।

अन्वय और अर्थ–तया=उस वाणी से, **अपहृतचेतसाम्**=आकृष्ट चित्त वाले, **भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्**=तथा भोग और ऐश्वर्य में आसक्ति वाले लोगों को, **समाधौ**=अन्त:करण (बुद्धि) में, **व्यवसायात्मिका**=तत्त्व का निश्चयरूपी, **बुद्धि:**–ज्ञान, **न**=नहीं, **विधीयते**=होता है।

व्याख्या–सकाम कर्म की निन्दा के प्रसंग में भगवान् इस श्लोक द्वारा बतलाते हैं कि कामनाओं के दास होकर जो लोग सकाम कर्मों में लगे रहते हैं उनको कभी भी तत्त्वज्ञान नहीं होता है। वे लोग सदा सुख-साधनों की खोज में रहते हैं और भोग एवं ऐश्वर्य में उनकी आसक्ति बनी रहती है। उनका चित्त क्रिया-भेदों को बतलाने वाली वाणी के द्वारा आकर्षित होकर फलेच्छा से विविध कर्मों में लगा रहता है। इससे उनका

द्वैतज्ञान पुष्ट होता है जो तत्त्वज्ञान का विरोधी है। उनका चित्त कामनाओं की चाह से आच्छादित रहता है और उसमें तत्त्वज्ञान का उदय नहीं होता है। शङ्कराचार्य ने समाधि का अर्थ किया है-पुरुष के भोग के लिए जिसमें सब कुछ स्थापित किया जाता है वह अन्तःकरण समाधि है। कामपरायण जनों के समाधि रूप अन्तःकरण में तत्त्व का निश्चय रूपी ज्ञान (व्यवसायात्मिका बुद्धि) प्रतिपादित नहीं होता है। अभिप्राय है कि कामनाओं के साथ कर्म करने वाले जन ज्ञान के प्रकाश से दूर ही रहते हैं।

टिप्पणी–समाधौ-सम्+आ+√धा (धारण कराना)+कि-समाधि। आचार्य शङ्कर के अनुसार यहाँ 'समाधि' शब्द अन्तःकरण का वाचक है। **भोगैश्वर्य-प्रसक्तानाम्**-भोगः ऐश्वर्यम् च इति भोगैश्वर्यम् (द्वन्द्व); भोगैश्वर्ययोः प्रसक्तानाम्। **विधीयते**-वि+√धा (धारण करना), लट्, प्र०पु०एक०।

शाङ्करभाष्य–तेषां च–भोगैश्वर्यप्रसक्तानां भोगः कर्तव्यम् ऐश्वर्यं च इति भोगैश्वर्ययोः एव प्रणयवतां तदात्मभूतानां तया क्रियाविशेषबहुलया वाचा अपहृतचेतसाम् आच्छादितविवेकप्रज्ञानां व्यवसायात्मिका साङ्ख्ये योगे वा बुद्धिः समाधौ समाधीयते अस्मिन् पुरुषोपभोगाय सर्वम् इति समाधिः अन्तःकरणं बुद्धिः तस्मिन् समाधौ न विधीयते न भवति इत्यर्थः। (44)

Eng. Tran.—

The intelligence which is to be trained, of those who are devoted to enjoyment and power and whose minds are carried away by these words (of the Veda) is not well-established in the Self (or concentration). (44)

• • •

सकाम कर्ममार्ग त्रिगुणपरक है, उसे छोड़ो।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।। ४५।।

अन्वय और अर्थ–अर्जुन=हे अर्जुन!, **वेदाः**=वेद, **त्रैगुण्यविषयाः**=तीन गुणों वाले संसार का (मुख्य रूप से) वर्णन करते हैं; **निस्त्रैगुण्यः**=तुम तीनों गुणों से अतीत, **निर्द्वन्द्वः**=(सुख-दुःखादि) द्वन्द्वों से रहित, **नित्यसत्त्वस्थः**=सदा सत्त्व गुण में स्थित, **निर्योगक्षेमः**=योग और क्षेम की भावना से मुक्त, **आत्मवान्**=(और) आत्मा में स्थित, **भव**=बनो।

व्याख्या–सकाम कर्म के दुष्फल बतलाने के प्रसंग में यहाँ भगवान् उसका कारण बताते हैं और अर्जुन को उससे मुक्त होने का परामर्श भी देते हैं। वेद के दो भाग हैं–मन्त्र एवं ब्राह्मण। इनमें तीन विषयों का मुख्यतया प्रतिपादन हुआ है–ज्ञान, कर्म, उपासना। पर 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' न्याय से यहाँ वेद का मुख्य विषय 'कर्म' और गौण विषय 'उपासना' मानकर वेद का विषय संसार बताया जा रहा है, जो सत्त्व, रजस् और तमस् नामक तीन गुणों से बनता है। तदनुसार वेद तीनों गुणों के कार्यरूप संसार को प्रकाशित करने वाले हैं। भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि तुम तीनों गुणों वाले संसार से रहित हो जाओ अर्थात् तीनों गुणों से रहित होकर असंसारी और निष्कामी हो जाओ।

यह स्थिति पाने के लिए चार विशेषताओं को अपने जीवन में अपनाना होगा–

1. निर्द्वन्द्व –सुख–दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित होना।
2. नित्यसत्त्वस्थ–सदा सत्त्व गुण को अन्तःकरण में पुष्ट करना।
3. निर्योगक्षेम–योग और क्षेम की भावना से मुक्त रहना। अप्राप्त को पाना योग है, तो प्राप्त का रक्षण क्षेम है। यह भावना संसार का बीज है।
4. आत्मवान्–आत्मा के वास्तविक स्वरूप को बनाये रखना। आत्मा के विषय में प्रमादरहित होना चाहिए।

इन चार विशेषताओं में पहली और तीसरी अभावरूप में हैं और शेष भावरूप में हैं।

टिप्पणी–त्रैगुण्यविषयाः–त्रैगुण्यं (संसारः) विषयः येषां ते (बहुव्रीहि)। संसार तीन गुणों से बनता है और वेद तीन गुणों से बनने वाले संसार को प्रकाशित करते हैं। **निर्योगक्षेमः**–अप्राप्तस्य प्राप्तिः योगः, प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमः। जो योग-क्षेम में ही प्रवृत्त रहते हैं, वे श्रेयस् मार्ग की ओर कठिनता से प्रवृत्त हो पाते हैं, इसलिए अर्जुन के लिए योगक्षेम को न चाहने वाला बनने का उपदेश है।

शाङ्करभाष्य–य एवं विवेकबुद्धिरहिताः तेषां कामात्मनाम्–

त्रैगुण्यविषयाः त्रैगुण्यं संसारो विषयः प्रकाशयितव्यो येषां ते वेदाः त्रैगुण्यविषयाः त्वं तु निस्त्रैगुण्यो भव अर्जुन निष्कामो भव इत्यर्थः। निर्द्वन्द्वः सुखदुःखहेतू सप्रतिपक्षौ पदार्थौ द्वन्द्वशब्दवाच्यौ ततो निर्गतो निर्द्वन्द्वो भव। त्वं नित्यसत्त्वस्थः सदा सत्त्वगुणाश्रितो भव। तथा निर्योगक्षेमः अनुपात्तस्य उपादानं योग उपात्तस्य रक्षणं क्षेमः, योगक्षेमप्रधानस्य श्रेयसि प्रवृत्तिः दुष्करा इति अतो निर्योगक्षेमो भव। आत्मवान् अप्रमत्तः च भव। एष तव उपदेशः स्वधर्मम् अनुतिष्ठतः। (45)

Eng. Tran.—

The action of the three-fold modes is the subject matter of the Veda; but do thou become free, O Arjuna, from this threefold nature; be free from the dualities (the pairs of opposites), be firmly fixed in purity, not caring for acquisition and preservation, and be possessed of the Self. (45)

• • •

तत्त्वज्ञाता को सकाम कर्म की आवश्यकता नहीं।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।। ४६।।

अन्वय और अर्थ–सर्वतः=चारों ओर से, **सम्प्लुतोदके**=परिपूर्ण जल वाले जलाशय के प्राप्त होने पर, **उदपाने**=छोटे जलाशय में, **यावान्**=जितना, **अर्थः**=प्रयोजन रहता है, **विजानतः**=तत्त्वज्ञान से सम्पन्न, **ब्राह्मणस्य**=ब्रह्मोपासक का, **सर्वेषु**=सब, **वेदेषु**=वेदों (से प्रतिपादित कर्मों) में, **तावान्**=उतना ही प्रयोजन रहता है।

व्याख्या–निष्काम कर्मयोग में प्रवृत्त करने के उद्देश्य से सकाम कर्मों की निन्दा के प्रसंग में यहाँ एक उपमा द्वारा समझाया जा रहा है कि सकाम कर्मों के फल तत्त्वज्ञान के फल में समाहित हैं। जब चारों तरफ से भरा हुआ बड़ा जलाशय प्राप्त हो तो जल पाने के लिए कूप, छोटे तालाब आदि की आवश्यकता नहीं रहती है क्योंकि छोटे जलाशय से होने वाले स्नान आदि सारे प्रयोजन उस महान् जलाशय द्वारा अनायास पूरे किये जा सकते हैं। ठीक इसी प्रकार जिस साधक को तत्त्वज्ञान हो गया वह तो ब्रह्मसाक्षात्कार से प्राप्त महान् आनन्द में रहता है, अतः उसके वेदों में बताए सकाम कर्मों से प्राप्त होने वाले लौकिक आनन्द स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। तात्पर्य है कि महान् फल में छोटे फलों का अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए ब्रह्मोपासक के सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में ही समा जाते हैं। यहाँ यह भी संकेत है कि जब तक ज्ञाननिष्ठा का अधिकार प्राप्त नहीं हुआ तब तक व्यक्ति को कर्म करने ही चाहिए भले ही वे अल्प फल देने वाले हैं। जैसे जब तक महान् जलाशय न मिले तब तक छोटे जलाशय से कार्य किया जाता है। ब्रह्मजिज्ञासु के लिए तो सांसारिक कर्मों से प्राप्त फलों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है।

टिप्पणी–ब्राह्मणस्य-ब्रह्म जानाति स ब्राह्मणः। जो ब्रह्म को जानता है वह ब्राह्मण है। ब्रह्मज्ञानी सब सकाम कर्मों के त्याग के कारण संन्यासी होता है। **विजानतः**-वि+√ज्ञा (जानना)+शतृ, पुं०, षष्ठी एकवचन।

शाङ्करभाष्य—सर्वेषु वेदोक्तेषु कर्मसु यानि अनन्तानि फलानि तानि च अपेक्ष्यन्ते चेत् किमर्थं तानि ईश्वराय इति अनुष्ठीयन्ते इति, उच्यते शृणु—

यथा लोके कूपतडागाद्यनेकस्मिन् उदपाने परिच्छिन्नोदके यावान् यावत्परिमाणः स्नानपानादिः अर्थः फलं प्रयोजनं स सर्वः अर्थः सर्वतः सम्प्लुतोदके तावान् एव सम्पद्यते तत्र अन्तर्भवति इत्यर्थः। एवं तावान् तावत्परिमाण एव सम्पद्यते सर्वेषु वेदेषु वेदोक्तेषु कर्मसु यः अर्थो यत् कर्मफलम्। सः अर्थो ब्राह्मणस्य सन्न्यासिनः परमार्थतत्त्वं विजानतो यः अर्थो विज्ञानफलं सर्वतः सम्प्लुतोदकस्थानीयं तस्मिन् तावान् एव सम्पद्यते तत्र एव अन्तर्भवति इत्यर्थः। 'सर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद' (छा० 4.1.4) इति श्रुतेः। 'सर्वं कर्माखिलम्' इति च वक्ष्यति। तस्मात् प्राग् ज्ञाननिष्ठाधिकारप्राप्तेः कर्मणि अधिकृतेन कूपतडागाद्यर्थस्थानीयम् अपि कर्म कर्तव्यम्। (46)

Eng. Tran.—

As is the use of a pond in a place flooded with water everywhere, so is that of all the Vedas for the *Brāhmin* who understands. (46)

• • •

कर्मयोग का स्वरूप।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। ४७।।

अन्वय और अर्थ— ते=तुम्हारा, **कर्मणि**=कर्म करने में, **एव**=ही, **अधिकारः**= अधिकार है; **फलेषु**=फलों में, **कदाचन**=कभी, **मा**=नहीं। **कर्मफलहेतुः**=कर्मों के फल (–प्राप्ति) का निमित्त, **मा**=मत, **भूः**=हो; **ते**=तुम्हारी, **सङ्गः**=आसक्ति, **अकर्मणि**=कर्म न करने में, **मा**=न, **अस्तु**=हो।

व्याख्या—यहाँ कर्मयोग के सिद्धान्त को सूत्ररूप में निर्दिष्ट करते हुए उसके चार अंग बताये गये हैं–(1) देह का अभिमान रखने वाले जीव का अधिकार कर्म में है ज्ञान में नहीं। अतः उसे शास्त्रों में बताये गये कर्मों को सदैव करते रहना चाहिए। (2) कर्मों को निष्काम भाव से करना चाहिए क्योंकि कर्मों के फल कर्ता के अधिकार में नहीं है। मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, पर कर्म का फल उसे कैसा और कितना मिलेगा, इस पर उसका कुछ अधिकार नहीं है। (3) कर्मों को उनके फलों की लालसा

से रहित होकर ही करना चाहिए। कर्म के फल को निमित्त बनाकर कर्म नहीं करने चाहिए। यह विचार कर कि 'अमुक कर्म का अमुक फल मिलेगा' कर्म करना भी अनुचित है। (4) यदि कर्मों के फलों की कामना ही नहीं करनी तो कर्म ही क्यों किया जाये-ऐसा सोचकर कर्म न करने में भी आग्रह नहीं होना चाहिए। इन चार तथ्यों के द्वारा यहाँ कर्मयोग के प्रमुख स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। तात्पर्य है कि मनुष्य को जीवन में सदा कर्मशील होना चाहिए, परन्तु फलों की लालसा से रहित होकर कर्मों को कर्तव्य-बुद्धि से करना चाहिए। कर्मों को विधिवत् सम्पादित करने के कारण कर्मफल तो नियमतः उसे मिलते ही हैं। साथ ही कर्मयोगी कर्मबन्धन से मुक्त रहता है और चित्त की शुद्धि को प्राप्त करता है। कर्मों की सफलता और विफलता में एक सा रहना निष्काम कर्मयोग का मूल आधार है।

टिप्पणी–कर्मफलहेतुः–कर्मफलं हेतुः यस्य सः कर्मफलहेतुः (बहुव्रीहि)। **अकर्मणि**–न कर्मणि अकर्मणि (नञ्तत्पुरुष)।

शाङ्करभाष्य–तव च कर्मणि एवाधिकारो, न ज्ञाननिष्ठायाम् ते तव। तत्र च कर्म कुर्वतो मा फलेषु अधिकारोऽस्तु कर्मफलतृष्णा मा भूत् कदाचन कस्यांचित् अप्यवस्थायाम् इत्यर्थः। यदा कर्मफले तृष्णा ते स्यात्, तदा कर्मफलप्राप्तेर्हेतुः स्याः; एवं मा कर्मफलहेतुः भूः। यदा हि कर्मफलतृष्णाप्रयुक्तः कर्मणि प्रवर्तते, तदा कर्मफलस्य एव जन्मनो हेतुर्भवेत्। 'यदि कर्मफलं नेष्यते किं कर्मणा दुःखरूपेण?' इति मा ते तव सङ्गः अस्तु अकर्मणि अकरणे प्रीतिः माभूत्। (47)

Eng. Tran.—

To action alone hast thou a right and never at all to its fruits; let not the fruits of action be thy motive; neither let there be in thee any attachment to inaction. (47)

• • •

'समत्व' को योग कहते हैं।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।। ४८।।

अन्वय और अर्थ–धनञ्जय=हे धन को जीतने वाले अर्जुन!, **सङ्गम्**=आसक्ति को, **त्यक्त्वा**=छोड़कर, **सिद्ध्यसिद्ध्योः**=सिद्धि और असिद्धि में, **समः**=समान (बुद्धि वाला), **भूत्वा**=होकर, **योगस्थः**=योग में स्थित होकर, **कर्माणि**=कर्मों को, **कुरु**=करो; **समत्वम्**=(यह) साम्यभाव (ही), **योगः**=योग, **उच्यते**=कहा जाता है।

व्याख्या–पिछले श्लोक में कर्मयोग के प्रसङ्ग में कहा गया कि कर्म के फल को पाने की इच्छा से कर्म नहीं करने चाहिए। यदि कर्मों को फल से प्रेरित होकर नहीं करना चाहिए, तो कैसे करना चाहिए–इस पर भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ बता रहे हैं कि कर्म को फल की आशा से रहित होकर करने का अभिप्राय है कि कर्ता कर्मफल को कोई महत्त्व नहीं दे रहा है। यदि कर्म सफलता या सिद्धि को प्राप्त होता है तो वह हर्षित नहीं होता है और यदि कर्म विफलता या असिद्धि को प्राप्त करता है तो वह खिन्न नहीं होता है। कर्मयोगी कर्मों की सिद्धि या असिद्धि में समरस अर्थात् समान बुद्धि वाला रहता है। सिद्धि में हर्ष का अभाव और असिद्धि में विषाद का अभाव होने से वह बौद्धिक स्थिरता के स्तर को प्राप्त कर लेता है।-अनुकूल या प्रतिकूल सब स्थितियों में एक जैसा रहना ही 'योग' कहलाता है। इसको ही इस श्लोक में 'समत्व' कहा गया है। श्रीकृष्ण का धनञ्जय अर्जुन को उपदेश है कि उसे बिना फल की इच्छा किये हुए इसी 'योग' में स्थित होकर अपने कर्तव्य कर्म को करना चाहिए।

टिप्पणी–योगस्थः–योगे तिष्ठति इति सः योगस्थः। **त्यक्त्वा**–√त्यज् (छोड़ना) + क्त्वा। **भूत्वा**–√भू (होना) + क्त्वा। **उच्यते**–√वच् (कहना), लट्, प्र०पु०एक० (कर्मवाच्य)। **सिद्ध्यसिद्ध्योः**–सिद्धिश्च असिद्धिश्च तयोः सिद्ध्यसिद्ध्योः (द्वन्द्व)।

शाङ्करभाष्य–यदि कर्मफलप्रयुक्तेन न कर्तव्यं कर्म, कथं तर्हि कर्तव्यम्? इत्युच्यते-योगस्थः सन्कुरु कर्माणि केवलम् ईश्वरार्थं तत्र अपि ईश्वरो मे तुष्यतु इति सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय। फलतृष्णाशून्येन क्रियमाणे कर्मणि सत्त्वशुद्धिजा, ज्ञानप्राप्तिलक्षणा सिद्धिः, तद्विपर्ययजाऽसिद्धिः तयोः सिद्ध्यसिद्ध्योः अपि समः तुल्यो भूत्वा कुरु कर्माणि। कोऽसौ योगो, यत्रस्थः कुरु इति उक्तम्? इदम् एव तत् सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वं योग उच्यते। (48)

Eng. Tran.—

Fixed in *yoga*, do thy work, O Winner of wealth (Arjuna), abandoning attachment, with an even mind in success and failure, for evenness of mind is called *yoga*. (48)

• • •

कर्मयोग की तुलना में सकाम कर्म निकृष्ट है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।। ४९।।

अन्वय और अर्थ–धनञ्जय=हे सम्पत्ति को जीतने वाले अर्जुन!, **बुद्धियोगात्**=

कर्मयोग से, **कर्म**=(सकाम) कर्म, **दूरेण**=दूर से, **हि**=ही, **अवरम्**=बहुत हीन कोटि का है। **बुद्धौ**=बुद्धि में, **शरणम्**=आश्रय, **अन्विच्छ**=खोजो। **फलहेतवः**=कर्म के फल की अभिलाषा करने वाले, **कृपणाः**=दया के पात्र होते हैं।

व्याख्या–कर्मयोग में कर्मों को आसक्ति-रहित होकर समत्व बुद्धि से किया जाता है। यह निष्काम कर्मयोग उत्कृष्ट कोटि का मार्ग है। इसकी तुलना में सकाम कर्म बहुत निकृष्ट कोटि का है क्योंकि वह कर्मफल के बन्धन में बांधता है। यहां आसक्ति रहित होकर किये जाने वाले कर्मों को 'बुद्धियोग' नाम दिया गया है और केवल 'कर्म' का अभिप्राय फलतृष्णा से प्रेरित होकर किये जाने वाले कर्मों से है। सकामी मनुष्यों के द्वारा किये जाने वाले कर्म जन्म-मरण रूपी फलों के हेतु होते हैं, इसलिए अत्यन्त ही हीन कोटि के हैं। उनको करने वाले लोग तो कृपण अर्थात् दया के पात्र हैं क्योंकि वे अपने वास्तविक उद्देश्य से अनजान रहते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी 'कृपण' शब्द का प्रयोग हुआ है–जो अक्षर ब्रह्म को न जानकर इस लोक से जाता है वह 'कृपण' है (बृ०उप०3.8.10)। भगवान् का परामर्श है कि अर्जुन को 'बुद्धि' अर्थात् समत्व योग विषयक बुद्धि की शरण में जाना चाहिए जिससे वह सफलता या विफलता में समान भाव से अपने कर्तव्य कर्म का निर्वाह कर सके।

'धनञ्जय' सम्बोधन से अर्जुन को याद दिलाया गया है कि तुम पराक्रम द्वारा सदैव धन-ऐश्वर्य को जीतते रहे हो अतः युद्ध के अवसर पर उससे विमुखता अनुचित है। कर्मयोग के लिए गीता में अनेक नामों का प्रयोग हुआ है उनमें से दो 'बुद्धियोग' और 'बुद्धि' का प्रयोग यहाँ एक साथ हुआ है। 'बुद्धि' का अर्थ है समत्व की बुद्धि; यही निष्काम कर्म का आधार है। इसीलिए कर्मयोगी को 'बुद्धियुक्त' कहना समुचित है।

टिप्पणी–बुद्धियोगात्–बुद्धेः योगः बुद्धियोगः तस्मात् (षष्ठी तत्पुरुष)। **अन्विच्छ**–अनु+√इष् (इच्छा करना), लोट्, म०पु०एक०। **फलहेतवः**–फलं हेतुः येषां ते फलहेतवः (बहुव्रीहि); कर्म के फल के कारण वाले लोग। **धनञ्जय**–धनं जयति सम्पादयति, धन+√जि (जीतना)+खच्। यह अर्जुन का एक प्रसिद्ध नाम है।

शाङ्करभाष्य–यत् पुनः समत्वबुद्धियुक्तम् ईश्वराराधनार्थं कर्म एतस्मात् कर्मणः। दूरेण अतिविप्रकर्षेण हि अवरं निकृष्टं कर्म फलार्थिना क्रियमाणं बुद्धियोगात् समत्वबुद्धियुक्तात् कर्मणो जन्ममरणादिहेतुत्वाद् धनञ्जय! यत एवं योगविषयायां बुद्धौ तत्परिपाकजायां वा साङ्ख्यबुद्धौ शरणम् आश्रयम् अभयप्राप्तिकारणम् अन्विच्छ प्रार्थयस्व परमार्थज्ञानशरणो भव इत्यर्थः। यतः अवरं कर्म कुर्वाणाः कृपणा दीनाः

फलहेतवः फलतृष्णाप्रयुक्ताः सन्तः 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः' (बृ० 3.8.10) इति श्रुतेः। (49)

Eng. Tran.—

Far inferior indeed is mere action to the discipline of intelligence (*buddhiyoga*), O Winner of wealth (Arjuna), seek refuge in intelligence. Pitiful are those who seek for the fruits (of their action). (49)

• • •

कर्मयोग ही कर्मों की कुशलता है।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।५०।।

अन्वय और अर्थ–**इह**=यहाँ (इस जीवन में), **बुद्धियुक्तः**=समत्व बुद्धि से युक्त कर्मयोगी, **सुकृत-दुष्कृते**=पुण्य और पाप, **उभे**=दोनों को, **जहाति**=छोड़ देता है। **तस्मात्**= इसलिए, **योगाय**=समत्व बुद्धि को जानने के लिए, **युज्यस्व**=प्रवृत्त हो जाओ। **योगः**=योग ही, **कर्मसु**=कर्मों में (बन्धन को हटाने की), **कौशलम्**=चतुरता है।

व्याख्या–कर्मयोग के स्वरूप और श्रेष्ठता के प्रतिपादन के बाद अब कर्मयोग की प्रशंसा की जा रही है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो व्यक्ति समत्वबुद्धि से युक्त होकर कर्मों को निष्काम भावना से करता है, वह कर्म की सफलता पर हर्ष से और कर्म की विफलता पर विषाद से रहित रहता है। अपनी इस समरसता के कारण वह पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ, सुख-दुःखं, प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्वों को छोड़ देता है अर्थात् इनसे मुक्त रहता है। राग-द्वेष नष्ट हो जाने से उसका चित्त निर्मल होता जाता है और उसमें वैराग्य आदि गुण स्वतः उत्पन्न होने लगते हैं जो आत्मानुभूति में सहायक होते हैं। इस प्रकार निष्काम कर्मयोग प्रशंसनीय है जो पुण्य-पाप से मुक्त करता है। वास्तव में पुण्य-पाप कर्मफल है, जिससे निष्काम कर्मी बँधता नहीं है। कर्म बन्धन-कारक नहीं है, बन्धनकारक है–कर्मफल। कर्मयोगी इन कर्मफलों की आसक्ति से परे होता है।

भगवान् का अर्जुन को आदेश है कि तुम निष्काम कर्म करने के लिए तत्पर हो जाओ और समत्व बुद्धि पाने का प्रयास करो। समत्वबुद्धि कर्मों के विषय में बहुत

बड़ी चतुराई है। कर्मयोग ही कर्मों की कुशलता है क्योंकि इससे बन्धनात्मक कर्म मोक्षोपयोगी हो जाते हैं। कर्म करके भी कर्मबन्धन में न बँध पायें–कर्मयोग की यही सार्थकता है।

टिप्पणी–बुद्धियुक्तः-बुद्ध्या युक्तः (तृतीया तत्पुरुष)। **जहाति**-√हा (छोड़ना), लट्, प्र०पु०एक०। **सुकृत-दुष्कृते**-सुकृतं च दुष्कृतं च सुकृतदुष्कृते (द्वन्द्व)। **कौशलम्**- कुशल+अण्; कुशलता, क्षमता। **युज्यस्व**-√युज् (मिलाना), लोट्, म०पु०एक०।

शाङ्करभाष्य–समत्वबुद्धियुक्तः सन् स्वधर्मम् अनुतिष्ठन् यत् फलं प्राप्नोति तद् शृणु–बुद्धियुक्तः समत्वविषयया बुद्ध्या युक्तो बुद्धियुक्तो जहाति परित्यजति इह अस्मिन् लोके उभे सुकृतदुष्कृते पुण्यपापे सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण यतः, तस्मात् समत्वबुद्धियोगाय युज्यस्व घटस्व। योगो हि कर्मसु कौशलं स्वधर्माख्येषु कर्मसु वर्तमानस्य या सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वबुद्धिः ईश्वरार्पितचेतस्तया तत् कौशलं कुशलभावः। तद् हि कौशलं यद् बन्धस्वभावानि अपि कर्माणि समत्वबुद्ध्या स्वभावाद् निवर्तन्ते। तस्मात् समत्वबुद्धियुक्तो भव त्वम्। (50)

Eng. Tran.—

One who has yoked his intelligence (with the Divine) (or is established in his intelligence) casts away even here both good and evil. Therefore, strive for *yoga, yoga* is skill in action. (50)

• • •

कर्मयोग जन्म-बन्धन से मुक्त कराता है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।५१।।

अन्वय और अर्थ–हि=निश्चय ही, **बुद्धियुक्ताः**=समत्व बुद्धि से युक्त, **मनीषिणः**=ज्ञानी जन, **कर्मजम्**=(सकाम)कर्म से उत्पन्न हुए, **फलम्**=(अच्छे या बुरे) फल, **त्यक्त्वा**=त्याग कर, **जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः**=जन्म के बन्धन से छूटकर, **अनामयम्**= समस्त कष्टों से रहित, **पदम्**=आत्मपद को, **गच्छन्ति**=प्राप्त कर लेते हैं।

व्याख्या–कर्मयोग की प्रशंसा के प्रसंग में भगवान् पुनः कहते हैं कि इसका आश्रय लेने से साधक सांसारिक आमयों अर्थात् कष्टों, उपद्रवों और दोषों से रहित

सत्-चित्-आनन्द स्वरूप आत्मा को पा लेता है। आत्मपद ही सबका प्राप्तव्य परमपद है। समत्व बुद्धि से साधक सुकृत और दुष्कृत से परे हो जाता है यह पहले बताया गया। यहां स्पष्ट किया गया है कि समत्व बुद्धि से युक्त मनीषी जन कर्म से उत्पन्न जन्म-मरण, सुख-दु:ख आदि अच्छे या बुरे फलों को छोड़ देते हैं। (1) पहले समत्वबुद्धि से उनका चित्त शुद्ध हो जाता है। (2) फिर शुद्धचित्त में ज्ञानप्राप्ति की योग्यता आती है। (3) अनन्तर ज्ञानप्राप्ति से साधक पाप-पुण्य की भेदपरक बुद्धि का नाश करता है और तत्त्वज्ञानी बन जाता है। निष्काम भावना से किये गये कर्म अपना फल कर्ता को नहीं देते हैं और तत्त्वज्ञान से उसके सञ्चित कर्म नष्ट हो जाते हैं-'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मुण्डकोपनिषद् 2.2.8)। निष्काम भाव से कर्म करने के कारण उसके क्रियमाण कर्म फलरहित हो जाते हैं। संचित कर्म तत्त्वज्ञान से नष्ट हो जाते हैं और प्रारब्ध कर्म भोग द्वारा क्षीण। फलत: तत्त्वज्ञानी कर्मफल-भोग के लिए पुन: शरीर धारण नहीं करता है और उसके जन्म का बन्धन छूट जाता है। वह तो प्रारब्ध कर्मों के भोग के लिए वर्तमान शरीर धारण किये रहता है और उनके समाप्त होते ही इस शरीर को छोड़कर आनन्द स्वरूप परमपद को पा लेता है। इस प्रकार कर्मयोग भी परम्परया मोक्षप्राप्ति में सहायक है।

टिप्पणी—कर्मजम्-कर्मण: जायते इति तत् कर्मजम्। **जन्मबन्धविनिर्मुक्ता:**-जन्म एव बन्ध: जन्मबन्ध: (कर्मधारय), तेन विनिर्मुक्ता: इति जन्मबन्धविनिर्मुक्ता: (तत्पुरुष)। **त्यक्त्वा**-√त्यज् (छोड़ना)+क्त्वा। **अनामयम्**-नास्ति आमय: यस्मिन् तत् अनामयम्(बहुव्रीहि)। **पदम्**-स्थानवाची। शङ्कराचार्य के अनुसार यहाँ 'पद' विष्णु के परमपद अर्थात् मोक्ष का वाचक है।

शाङ्करभाष्य—यस्मात् कर्मजं फलं त्यक्त्वा इति व्यवहितेन सम्बन्ध:। इष्टानिष्टदेहप्राप्ति: कर्मजं फलं कर्मभ्यो जातं बुद्धियुक्ता: समत्वबुद्धियुक्ता हि यस्मात् फलं त्यक्त्वा परित्यज्य मनीषिणो ज्ञानिनो भूत्वा जन्मबन्धविनिर्मुक्ता जन्म एव बन्धो जन्मबन्ध: तेन विनिर्मुक्ता जीवन्त एव जन्मबन्धविनिर्मुक्ता: सन्त: पदं परमं विष्णो: मोक्षाख्यं गच्छन्ति अनामयं सर्वोपद्रवरहितम् इत्यर्थ:।

अथवा 'बुद्धियोगाद्धनञ्जय' इति आरभ्य परमार्थदर्शनलक्षणा एव सर्वत: सम्प्लुतोदकस्थानीया कर्मयोगजसत्त्वशुद्धिजनिता बुद्धि: दर्शिता साक्षात् सुकृतदुष्कृतप्रहाणादिहेतुत्वश्रवणात्। (51)

Eng. Tran.—

The wise who have united their intelligence (with the

Divine) renouncing the fruits which their action yields and freed from the bonds of birth, reach the sorrowless state. (51)

• • •

मोहरहित होने पर कर्मों से विरक्ति होती है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।५२।।

अन्वय और अर्थ–**यदा**=जब, **ते**=तुम्हारी, **बुद्धिः**=बुद्धि, **मोहकलिलम्**=मोह के अविवेकरूपी कालुष्य को, **व्यतितरिष्यति**=पार कर लेगी, **तदा**=तब (तुम), **श्रोतव्यस्य**=सुनने योग्य, **च**=और, **श्रुतस्य**=सुने हुए से, **निर्वेदम्**=विरक्ति को, **गन्तासि**=प्राप्त हो जाओगे।

व्याख्या–कर्मयोग के सिद्धान्त के प्रतिपादन के अन्तर्गत उसके आधार समत्वबुद्धि की प्रशंसा की गयी। अब यहाँ बतलाने जा रहे हैं कि समत्वबुद्धि का विरोधी भाव मोह है जिसे छोड़ने पर ही कर्मयोग की सिद्धि सम्भव है। भगवान् कहते हैं कि मोह भाव एक प्रकार की कालिमा या कालुष्य है जिससे आत्मा और अनात्मा का विवेक दूषित हो जाता है और फिर अन्तःकरण (बुद्धि) विषयों के प्रति प्रवृत्त होता रहता है। जब बुद्धि इस मोहरूपी कालिमा को पार कर लेगी तब वह पूर्णतया शुद्ध हो जायेगी और फिर स्वतः ही कृत, क्रियमाण और करिष्यमाण कर्मों के प्रति वैराग्य प्राप्त कर लेगी। मन्त्र में श्रोतव्य और श्रुत शब्दों का प्रयोग दो प्रकार के कर्मों के लिए हुआ है। 'श्रोतव्य' का अर्थ है–सुनने योग्य अर्थात् वे कर्म जो शास्त्र के द्वारा कर्तव्य के रूप में प्रतिपादित हैं और अभी करने को रह गये हैं। इससे अभिप्राय 'करिष्यमाण' अर्थात् कर्तव्य के रूप में शेष रह गये कर्मों से है। 'श्रुत' का अर्थ है–सुना हुआ अर्थात् वे कर्म जो किये जा चुके हैं। इसका अभिप्राय 'कृत' कर्मों से है। तीसरे वे कर्म हैं जो वर्तमान में किये जा रहे हैं, उनको 'क्रियमाण' कर्म कहते हैं। तीनों कालों से सम्बद्ध कर्मों के निराकरण द्वारा दर्शाया गया है कि निर्मल बुद्धि या अन्तःकरण वाले के लिए सारा कर्मजाल निष्फल हो जाता है। मोहभंग होते ही साधक की कर्मों से आसक्ति हट जाती है। मोह रहने से मनुष्य का चित्त सदैव मल से आच्छादित रहता है।

टिप्पणी–**निर्वेदम्**-निर्+√विद् (जानना)+घञ्, वैराग्यभाव। **मोहकलिलम्**-मोह एव कलिलम् (कर्मधारय); मोहात्मक कालुष्य। **व्यतितरिष्यति**-वि+अति+√तॄ (पार करना), लृट्, प्र०पु०एक०। **श्रोतव्यस्य**-श्रु (सुनना)+तव्यत्। **श्रुतस्य**-√श्रु (सुनना)+ क्त।

शाङ्करभाष्य—योगानुष्ठानजनितसत्त्वशुद्धिजा बुद्धिः कदा प्राप्यते इति उच्यते-यदा यस्मिन्काले ते तव मोहकलिलं मोहात्मकम् अविवेकरूपं कालुष्यं येन आत्मानात्मविवेकबोधं कलुषीकृत्य विषयं प्रति अन्तःकरणं प्रवर्तते तत् तव बुद्धिः व्यतितरिष्यति व्यतिक्रमिष्यति शुद्धिभावं आपत्स्यते इत्यर्थः। तदा तस्मिन्काले गन्तासि प्राप्स्यसि निर्वेदं वैराग्यं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च तदा श्रोतव्यं श्रुतं च निष्फलं प्रतिपद्यते इति अभिप्रायः। (52)

Eng. Tran.—

When thine intelligence shall cross the whirl of delusion, then shalt thou become indifferent to what has been heard and what is yet to be heard. (52)

• • •

स्थितप्रज्ञता कर्मयोग की प्राप्ति का लक्षण है।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।५३।।

अन्वय और अर्थ—श्रुति-विप्रतिपन्ना=(अनेक कर्मों में लगाने वाले) श्रुतिवाक्यों से उलझी हुई, **ते**=तुम्हारी, **बुद्धिः**=बुद्धि, **यदा**=जब, **समाधौ**=आत्मा में, **निश्चला**=एकनिष्ठ होकर, **अचला**=स्थिर, **स्थास्यति**=हो जाएगी; **तदा**=तब, **योगम्**=तुम (आत्मस्वरूप में अवस्थान रूप) योग को, **अवाप्स्यति**=प्राप्त करोगे।

व्याख्या—कर्मयोग की विवेचना में पीछे बताया गया कि निष्काम कर्म करने से चित्त-शुद्धि होती है। शुद्धचित्त में वैराग्य आदि गुण आते हैं और फिर गुरु-उपदेश, शास्त्र-उपदेश आदि से आत्मज्ञान होता है। यहाँ बताया जा रहा है कि कर्मयोग के फलस्वरूप आत्मज्ञान (योग) कब प्राप्त होता है।

वेद की श्रुतियों में मनुष्य के लिए अनेक प्रकार के कर्तव्य कर्मों का विधान किया गया है जिनको सुन कर मनुष्य की बुद्धि अस्थिर होकर अनेक विषयों की ओर प्रवृत्त होती रहती है। कर्मों का यही आकर्षण संसार में आवागमन का कारण बनता है। श्रीकृष्ण ने इससे बचने के लिए कर्मयोग का प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं कि जब विषयों की ओर उन्मुख होकर व्याकुल हुई मनुष्य की बुद्धि बाहरी विकल्पों से रहित होकर आत्मा में ही लीन हो जाएगी, तभी कहा जा सकता है कि साधक ने योग प्राप्त कर लिया है। योग का अर्थ है-आत्मस्वरूप में अवस्थान रूप समाधि को प्राप्त करना।

आचार्य शङ्कर ने मन्त्र में प्रयुक्त 'समाधि' शब्द का अर्थ 'आत्मा' और 'योग' शब्द का अर्थ 'समाधि' किया है। जिसमें चित्त का समाधान किया जाए वह आत्मा 'समाधि' है। आत्मा एवं अनात्मा की पहचान की बुद्धि रूप तत्त्वज्ञान अर्थात् 'समाधि' को यहाँ योग कहा गया है।

अभिप्राय है कि कर्मयोग से स्थितप्रज्ञता की प्राप्ति होती है और स्थितप्रज्ञता से आत्मज्ञान प्राप्त होता है। साधक ने कर्मयोग सिद्ध कर लिया है, इसका लक्षण उसकी स्थितप्रज्ञता है।

टिप्पणी–श्रुतिविप्रतिपन्ना-श्रुतिभिः विप्रतिपन्ना (तृतीया तत्पुरुष)। वि+ प्रति+√पद् (पाना)+ क्त-विप्रतिपन्न। **अचला**-न चला (नञ् तत्पुरुष)। **स्थास्यति**-√स्था (ठहरना), लृट्, प्र०पु०एक०। **अवाप्स्यसि**–अव+√आप् (पाना), लृट्, म०पु० एक०।

शाङ्करभाष्य–मोहकलिलात्ययद्वारेण लब्धात्मविवेकजप्रज्ञः कदा कर्मयोगजं फलं परमार्थयोगम् अवाप्स्यामि इति चेत् तत् शृणु–श्रुतिविप्रतिपन्ना अनेकसाध्यसाधन-सम्बन्धप्रकाशनश्रुतिभिः श्रवणैः विप्रतिपन्ना नानाप्रतिपन्ना श्रुतिविप्रतिपन्ना विक्षिप्ता सती ते तव बुद्धिः यदा यस्मिन्काले स्थास्यति स्थिरीभूता भविष्यति निश्चला विक्षेपचलनवर्जिता सती समाधौ समाधीयते चित्तम् अस्मिन् इति समाधिः आत्मा तस्मिन् आत्मनि इति एतत्। अचला तत्रापि विकल्पवर्जिता इति एतत्। बुद्धिः अन्तःकरणम्, तदा तस्मिन्काले योगम् अवाप्स्यसि विवेकप्रज्ञां समाधिं प्राप्स्यसि। (53)

Eng. Tran.—

When thine intelligence, which is bewildered by the Vedic texts, shall stand unshaken and stable in spirit (*samādhi*), then shalt thou attain to insight (*yoga*). (53)

• • •

अर्जुन ने पूछा–स्थितप्रज्ञ कौन है उसे कैसे पहचानेंगे?

अर्जुन उवाच–

> **स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।**
> **स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।। ५४।।**

अन्वय और अर्थ–केशव=हे केशव!, **समाधिस्थस्य**=समाधि में स्थित, **स्थितप्रज्ञस्य**=स्थितप्रज्ञ की, **का**=क्या, **भाषा**=परिभाषा है? **स्थितधीः**=स्थितप्रज्ञ,

किम्=कैसे, **प्रभाषेत**=बोलता है? **किम्**=कैसे, **आसीत**=बैठता है? **किम्**=कैसे, **व्रजेत**=चलता है?

व्याख्या–कामना से रहित होकर कर्म करने वाला 'कर्मयोगी' चित्त की शुद्धि को प्राप्त करता है और बौद्धिक स्थिरता के उस स्तर पर पहुंच जाता है जहाँ कार्य की सिद्धि या असिद्धि उसे प्रभावित नहीं करती है। कर्मयोग के विवेचन के अन्त में भगवान् ने अर्जुन को बताया कि कर्मयोग की प्राप्ति की पहचान स्थितप्रज्ञता है। स्थितप्रज्ञ साधक आत्मज्ञान को प्राप्त करता है फलतः मोक्षप्राप्ति का अधिकारी हो जाता है।

स्थितप्रज्ञ के स्वरूप को भली-भाँति समझने की जिज्ञासा से अर्जुन ने इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण से प्रश्न किया। भगवान् को उनके केशव नाम से सम्बोधित करते हुए उसने पहले एक सामान्य प्रश्न किया-(१) समाधि में स्थित स्थितप्रज्ञ मनुष्य की क्या परिभाषा है? प्रश्न का आशय यह जानना है कि स्थित बुद्धि वाले मनुष्य के क्या विशेष लक्षण हैं। इसके बाद अर्जुन ने स्थितप्रज्ञ के विषय में तीन विशेष प्रश्न किये–वह किस प्रकार बोलता है? किस प्रकार बैठता है? और किस प्रकार गति करता है? इन प्रश्नों का तात्पर्य क्रमशः यह जानना है कि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति (२) अपने सांसारिक व्यवहार कैसे निष्पन्न करता है, (३) अपनी मानसिक क्रियाएं कैसे करता है और अपनी इन्द्रियों का निग्रह कैसे करता है? (४) अपनी बर्हिगामी सामान्य और विशेष क्रियाएं कैसे सम्पादित करता है? इन प्रश्नों का तात्पर्य यह जानना है कि उसके और सांसारिक व्यक्ति के व्यवहार में क्या विशेष अन्तर होता है? दूसरे शब्दों में अर्जुन यह जानना चाहता है कि मनुष्य यदि स्थितप्रज्ञ हो गया है तो उसे हम कैसे पहचानें। गीता के दूसरे अध्याय के आगामी सत्रह श्लोकों में भगवान् ने इन प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। प्रथम प्रश्न का उत्तर दो श्लोकों में (55-56), द्वितीय प्रश्न का उत्तर दो श्लोकों में (56-57), तृतीय प्रश्न का उत्तर छह श्लोकों में (58-63) और चतुर्थ प्रश्न का उत्तर आठ श्लोकों में (64-71) दिया गया है।

टिप्पणी–समाधिस्थस्य–समाधौ तिष्ठति इति समाधिस्थः तस्य। समाधि वह अवस्था है जिसमें चित्त को बाह्य विषयों से समेट लिया जाता है। समाधीयते चित्तम् अस्मिन् इति समाधिः–शङ्कराचार्य, गीताभाष्य 2.53। पातञ्जल योगसूत्र में समाधि एक योगाङ्ग है। **स्थितप्रज्ञस्य**–स्थिता प्रज्ञा यस्य सः स्थितप्रज्ञः तस्य स्थितप्रज्ञस्य (बहुव्रीहि)। **स्थितधीः**–स्थिता धीः यस्य सः स्थितधीः (बहुव्रीहि)। 'धी' प्रज्ञा का ही दूसरा नाम है। **प्रभाषेत**–प्र+√भाष् (बोलना), विधिलिङ्, प्र०पु०एक०। **आसीत**–√आस् (बैठना), विधिलिङ्, प्र०पु० एक०।

शाङ्करभाष्य–प्रश्नबीजं प्रतिलभ्य लब्धसमाधिप्रज्ञस्य लक्षणबुभुत्सया अर्जुन उवाच–स्थिता प्रतिष्ठिता 'अहमस्मि परं ब्रह्म' इति प्रज्ञा यस्य, स स्थितप्रज्ञः, तस्य का भाषा किं भाषणं वचनम्? कथम् असौ परैः भाष्यते? समाधिस्थस्य समाधौ स्थितस्य केशव। स्थितधीः स्थितप्रज्ञः स्वयं वा किं प्रभाषेत? किमासीत? व्रजेत किम्? आसनं, व्रजनं वा तस्य कथम्? इत्यर्थः। स्थितप्रज्ञस्य लक्षणम् अनेन श्लोकेन पृच्छति। (54)

Eng. Tran.—

Arjuna said : What is the description of the man who has this firmly founded wisdom, whose being is steadfast in spirit, O Keśava (Kṛṣṇa)? How should the man of settled intelligence speak, how should he sit, how should he walk ? (54)

• • •

भगवान् ने कहा–जो स्वयं से संतुष्ट है वही स्थितप्रज्ञ है।

श्रीभगवानुवाच–

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।५५।।

अन्वय और अर्थ–पार्थ=हे पृथा के पुत्र अर्जुन!, **यदा**=जब (मनुष्य), **मनोगतान्**=मन में उत्पन्न होने वाली, **सर्वान्**=सब, **कामान्**=इच्छाओं को, **प्रजहाति**=छोड़ देता है (और), **आत्मनि**=आत्मा में, **एव**=ही, **आत्मना**=आत्मा से, **तुष्टः**=सन्तुष्ट रहता है, **तदा**=तब (वह), **स्थितप्रज्ञः**=टिकी हुई प्रज्ञा वाला, **उच्यते**=कहलाता है।

व्याख्या–'स्थितप्रज्ञ' की परिभाषा बतलाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को माता पृथा कुन्ती के पुत्र के रूप में स्मरण करते हुए यहाँ 'पार्थ' नाम से सम्बोधित किया। कर्मयोग की व्याख्या के अन्त में भगवान् ने अर्जुन को बुद्धि के स्थित होने का लाभ बताया। तब अर्जुन ने स्थितप्रज्ञ के स्वरूप के विषय में चार प्रश्न किये। इस श्लोक में भगवान् अर्जुन के प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुए स्थितप्रज्ञ साधक की दो प्रमुख विशेषताएँ बता रहे हैं। जिस समय मनुष्य अपने मन में उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण सांसारिक कामनाओं को पूरी तरह से त्याग देता है और अपनी समस्त बहिर्मुखी चित्तवृत्ति को अन्तर्मुखी बना लेता है, उस समय वह स्थितप्रज्ञता सम्बन्धी पहली विशेषता को पा लेता है। उसके अनन्तर जब वह सर्वकामना के परित्याग के कारण

भीतर ही भीतर अपने आप से परम सन्तुष्ट होता हुआ आनन्दरूप परमात्मा में ही आत्मा के द्वारा प्रसन्नता का अनुभव करता रहता है तब वह स्थितप्रज्ञता सम्बन्धी दूसरी विशेषता को प्राप्त करता है। स्थितप्रज्ञ साधक बिना किसी बाहरी साधन के आत्मा में ही आत्मा के द्वारा सदा अनश्वर आनन्द को प्राप्त करता है। आचार्य शङ्कर ने स्थितप्रज्ञता की तीन भूमिकाएं बताई हैं–इच्छाओं का त्याग, सकाम कर्मों का त्याग और आत्मरामता।

टिप्पणी–मनोगतान्–मनः गताः तान् मनोगतान् (द्वितीया तत्पुरुष)। **प्रजहाति**–प्र+√हा(त्यागना), लट्, प्र०पु०एक०।

शाङ्करभाष्य–यो हि आदित एव संन्यस्य कर्माणि ज्ञानयोगनिष्ठायां प्रवृत्तो यश्च कर्मयोगेन, तयोः स्थितप्रज्ञस्य 'प्रजहाति' इति आरभ्याध्यायपरिसमाप्तिपर्यन्तं स्थितप्रज्ञलक्षणं साधनं च उपदिश्यते। सर्वत्र एव हि अध्यात्मशास्त्रे कृतार्थलक्षणानि यानि तान्येव साधनानि उपदिश्यन्ते यत्नसाध्यत्वात्। यानि यत्नसाध्यानि साधनानि लक्षणानि च भवन्ति, तानि। श्रीभगवानुवाच–

प्रजहाति प्रकर्षेण जहाति परित्यजति यदा यस्मिन्काले सर्वान् समस्तान् कामान् इच्छाभेदान्। हे पार्थ, मनोगतान् मनसि प्रविष्यान् हृदि प्रविष्यान्। सर्वकामपरित्यागे तुष्टिकारणाभावात् शरीरधारणनिमित्तशेषे च सति उन्मत्तप्रमत्तस्य इव प्रवृत्तिः प्राप्ता, इति अत उच्यते–आत्मन्येव प्रत्यगात्मस्वरूपे एव आत्मना स्वेनैव बाह्यलाभनिरपेक्षः तुष्टः परमार्थदर्शनामृतरसलाभेन अन्यस्माद् अलम्प्रत्ययवान् स्थितप्रज्ञः स्थिता प्रतिष्ठिता आत्मानात्मविवेकजा प्रज्ञा यस्य, स स्थितप्रज्ञो विद्वांस्तद् उच्यते। त्यक्तपुत्र-वित्तलोकैषणः, सन्यासी, आत्माराम आत्मक्रीडः स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः। (55)

Eng. Tran.—

The Blessed Lord Said : When a man puts away all the desires of his mind, O Pārtha (Arjuna) and when his spirit is content in itself, then is he called stable in intelligence. (55)

• • •

स्थितप्रज्ञ दुःख-सुख से अप्रभावित रहता है।

दुखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।। ५६।।

अन्वय और अर्थ–दुःखेषु=दुःखों में, **अनुद्विग्नमनाः**=क्षोभ से रहित मन वाला,

सुखेषु=सुखों में, **विगतस्पृहः**=तृष्णा से रहित तथा, **वीत-राग-भय-क्रोधः**=नष्ट हुए आसक्ति, डर और गुस्से वाला, **मुनिः**=मुनि, **स्थितधीः**=स्थितप्रज्ञ, **उच्यते**= कहलाता है।

व्याख्या–अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से बुद्धि के स्थित होने की महिमा सुनकर स्थितप्रज्ञ के स्वरूप के विषय में जो प्रश्न किये, उनमें से स्थितप्रज्ञ के लक्षण के विषय में किये गये प्रथम प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने यह दूसरा श्लोक कहा है।

प्राय: साधारण लोग दु:ख आने पर खिन्न हो जाते हैं और सुख आने पर उसकी लालसा करते रहते हैं। इन्हीं दो भावनाओं से भय और क्रोध का सम्बन्ध है। दु:ख से भय होता है और सुख न मिलने पर क्रोध आता है। राग आसक्ति से उपजता है। इस प्रकार राग-द्वेष, भय, क्रोध आदि भावों से प्रेरित होकर सामान्य मनुष्य सदा सांसारिक व्यवहारों में लिप्त रहता है। इसके विपरीत टिकी हुई बुद्धि वाले 'स्थितप्रज्ञ' साधक का चित्त दु:खों को पाकर खिन्न नहीं होता है। वह सुख प्राप्त करने पर उसकी आसक्ति भी नहीं करता है। फलत: वह सुख-दु:ख आने पर राग-द्वेष, भय और क्रोध की भावनाओं से मुक्त रहता है। हर्ष और विषाद को अपने चित्त से परे कर देने वाला मुनि ही स्थित बुद्धि वाला कहा जाता है।

टिप्पणी–अनुद्विग्नमनाः–न उद्विग्नम् इति अनुद्विग्नम्। अनुद्विग्नं मन: यस्य सः अनुद्विग्नमना: (बहुव्रीहि)। **विगतस्पृहः**–विगता स्पृहा यस्य स: विगत-स्पृहः (बहुव्रीहि)। **वीतरागभयक्रोधः** राग: च भयं च क्रोध: च वीता: यस्मात् सः वीतरागभयक्रोध: (बहुव्रीहि)।

शाङ्करभाष्य–किं च–दु:खेषु आध्यात्मिकादिषु प्राप्तेषु न उद्विग्नं न प्रक्षुभितं दु:खप्राप्तौ मनो यस्य सोऽयमनुद्विग्नमना:। तथा सुखेषु प्राप्तेषु विगता स्पृहा तृष्णा यस्य न अग्निरिवेन्धनाद्याधाने सुखानि अनुविवर्धते स विगतस्पृह:। वीतरागभयक्रोधः रागश्च भयं च क्रोधश्च वीता विगता यस्मात् स वीतरागभयक्रोध: स्थितधी: स्थितप्रज्ञो मुनि: सन्यासी तदोच्यते। (56)

Eng. Tran.—

He whose Mind is untroubled in the midst of sorrows and is free from eager desire amid pleasures, he from whom passion, fear, and rage have passed away—he is called a sage of settled intelligence. (56)

• • •

लोगों के प्रति उसका व्यवहार रागद्वेषरहित होता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५७।।

अन्वय और अर्थ–**यः**=जो (पुरुष), **सर्वत्र**=सब में, **अनभिस्नेहः**=स्नेह रहित हुआ, **तत् तत्**=उस उस, **शुभाशुभम्**=शुभ तथा अशुभ वस्तु को, **प्राप्य**=प्राप्त करके, **न**=न, **अभिनन्दति**=प्रसन्न होता है (और), **न**=न, **द्वेष्टि**=द्वेष करता है, **तस्य**=उसकी, **प्रज्ञा**=बुद्धि, **प्रतिष्ठिता**=स्थिर है।

व्याख्या–स्थितप्रज्ञ के स्वरूप-विवेचन के अन्तर्गत अर्जुन के दूसरे प्रश्न के उत्तर में यहाँ बताया जा रहा है कि लोगों के प्रति उसका व्यवहार राग-द्वेषरहित होता है। सर्वत्र सब वस्तुओं और लोगों के प्रति आसक्ति और राग की भावना न होने के साथ-साथ उसके चित्त में उनके लिए द्वेष की भावना भी नहीं रह जाती है। इसी कारण से संसार में तरह-तरह के शुभ या अशुभ फलों को पाकर न तो वह उनका अभिनन्दन करता है और न ही उनसे द्वेष करता है। अच्छे को पाकर प्रसन्न न होना और बुरे को पाकर द्वेष न करना इसीलिए सम्भव है क्योंकि उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है। स्थित प्रज्ञा वाले मुनि के मन में लोगों के प्रति राग और द्वेष का भाव समाप्त हो जाता है इसलिए न कोई उसका प्रिय होता है और न कोई अप्रिय। वह सदा सर्वत्र सबके साथ एक जैसा समान व्यवहार करता है।

टिप्पणी–**अनभिस्नेहः**–नास्ति अभिस्नेहः यस्मिन् सः अनभिस्नेहः (बहुव्रीहि)। **शुभाशुभम्**–शुभं च अशुभं च शुभाशुभम् (द्वन्द्व)। **द्वेष्टि**–√द्विष् (द्वेष करना), लट्, प्र० पु० एक०। **प्राप्य**–प्र+√आप् (पाना) + ल्यप्। **अभिनन्दति**–अभि+√नन्द् (प्रसन्न करना), लट्, प्र० पु० एक०। **प्रतिष्ठिता**– प्रति+√स्था (रहना)+क्त, स्त्रीलिङ्ग।

शाङ्करभाष्य–किं च–यो मुनिः सर्वत्र देहजीवितादिषु अपि अनभिस्नेहः अभिस्नेहवर्जितः, तत्तत्प्राप्य शुभाशुभं तत् तत् शुभम् अशुभम् वा लब्ध्वा नाभिनन्दति, न द्वेष्टि शुभं प्राप्य न तुष्यति न हृष्यति अशुभं च प्राप्य न द्वेष्टि इत्यर्थः। तस्य एव हर्षविषादवर्जितस्य विवेकजा प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवति। (57)

Eng. Tran.—

He who is without affection on any side, who does not rejoice or loathe as he obtains good or evil—his intelligence is firmly set (in wisdom). (57)

• • •

स्थितप्रज्ञ अपनी इन्द्रियों को विषयों से हटा लेता है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५८।।

अन्वय और अर्थ–**च**=और, **यदा**=जब, **अयम्**=यह पुरुष, **कूर्मः**=कछुआ, **सर्वशः**=जैसे सब ओर से, **अङ्गानि**=अङ्गों को (सिकोड़ लेता है), **इव**=वैसे ही, **इन्द्रियार्थेभ्यः**=इन्द्रिय के विषयों से, **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियों को, **संहरते**=समेट लेता है, **तस्य**=(तब)उसकी, **प्रज्ञा**=प्रज्ञा, **प्रतिष्ठिता**=प्रतिष्ठित होती है।

व्याख्या–अर्जुन के स्थितप्रज्ञ के विषय में तीसरे प्रश्न कि 'स्थितप्रज्ञ किस प्रकर बैठता है?' अर्थात् 'वह अपनी मानसिक क्रियाएं कैसे करता है और अपनी इन्द्रियों का निग्रह कैसे करता है?' के उत्तर में भगवान् ने यहां से लेकर तिरसठवें तक छह श्लोक कहे हैं। भगवान् इस श्लोक में एक उपमा द्वारा समझते हैं कि स्थितप्रज्ञ अपनी इन्द्रियों को बाह्य विषयों से विमुख कर लेता है। जब साधक अपनी समस्त इन्द्रियों को उनके विषयों से हटा लेता है, जैसे कछुआ बाह्य विषयों से भय होने पर अपने अंगों को समेटकर अपनी खोपड़ी के नीचे छिपा लेता है; तब उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित होती है। ज्ञानेन्द्रियाँ–श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, घ्राण और जिह्वा क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध, और रस नामक ज्ञातव्य विषयों का ग्रहण करने के लिए बर्हिगामी वृत्ति से युक्त रहती हैं। तो कर्मेन्द्रियाँ–वाणी, कृति, गति, मलविसर्जन और आनन्द नामक पाँच कार्य-विषयों की ओर, और मन सुख-दुःख आदि मन्तव्य विषयों की ओर प्रवृत्त रहता है। पर जब साधक इन्द्रियों को विषयों से हटाकर अपने वश में कर लेता है और अन्तःकरण में स्थापित कर देता है, तब उसकी सब बाह्य क्रियाएँ रुक जाती है, फलतः बुद्धि भी करणता से रहित होकर अचल हो जाती है। यही प्रज्ञा का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होना है, पर इस स्थिति तक पहुँचने के लिए इन्द्रियों को विषयों से समेटना आवश्यक है।

टिप्पणी–संहरते-सम्+√हृ (हरण करना), लट्, प्र०पु०एक०। **प्रतिष्ठिता**-प्रति+√स्था (रुकना)+क्त, स्त्रीलिङ्ग। **इन्द्रियार्थेभ्यः**-इन्द्रियाणाम् अर्थाः तेभ्यः इन्द्रियार्थेभ्यः (षष्ठी तत्पुरुष)। महाभारत (शान्तिपर्व 202.5) में भी इन्द्रियों के इन्द्रिय के अर्थों (विषयों) से हटाने को आत्मस्वरूप के दर्शन का आधार बताया गया है–

निवर्तयित्वा रसनां रसेभ्यो
घ्राणं च गन्धाच्छ्रवणौ च शब्दात्।
स्पर्शात्त्वचं रूपगुणात्तु चक्षुस्
ततः परं पश्यति स्वं स्वभावम्।।

शाङ्करभाष्य–किं च–यदा संहरते सम्यग् उपसंहरते च अयं ज्ञाननिष्ठायां प्रवृत्तो यतिः कूर्मः अङ्गानि इव सर्वशो यथा कूर्मो भयात् स्वानि अङ्गानि उपसंहरति सर्वत एवं ज्ञाननिष्ठ इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः सर्वविषयेभ्य उपसंहरते। तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता इति उक्तार्थं वाक्यम्। (58)

Eng. Tran.—

He who draws away the senses from the objects of sense on every side as a tortoise draws in his limbs (into the shell), his intelligence is firmly set (in wisdom). (58)

• • •

विषयों का राग छोड़ना आवश्यक है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।५९।।

अन्वय और अर्थ–**निराहारस्य**=विषयों के आहरण से रहित, **देहिनः**=देहाभिमानी के, **रसवर्जम्**=विषयों की अभिलाषा (राग) के हटे बिना ही, **विषयाः**=विषय तो, **विनिवर्तन्ते**=निवृत्त हो जाते हैं किन्तु; **अस्य**=इसका, **रसः**=राग, **अपि**=भी, **परम्**=परमतत्त्व को, **दृष्ट्वा**=देखकर, **निवर्तते**=समाप्त हो जाता है।

व्याख्या–अर्जुन के तीसरे प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने बताया कि जब साधक इन्द्रियों को विषयों से हटा लेता है, तब उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित कहलाती है। यहाँ इसी तथ्य को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा जा रहा है कि मात्र इन्द्रियों को विषयों से हटाना भर पर्याप्त नहीं है। 'विषयों में आनन्द है' इस भावना से उनके प्रति जो आकर्षण होता है उसको छोड़ना आवश्यक है और यह भावना तो आत्मसाक्षात्कार के बाद निवृत्त होती है। इन्द्रियों को विषयों से हटाने का अर्थ केवल इन्द्रियों को विषयों के सम्पर्क में न आने देना नहीं है क्योंकि यह कार्य कठिन नहीं है। रोग की अवस्था में, मूर्च्छा की अवस्था में, हठपूर्वक या कठिन व्रत में इन्द्रियां विषयों से अपना सम्पर्क हटा सकती हैं और तब विषयों के अनुभव बुद्धि तक नहीं पहुंचते। कह सकते हैं कि जाने अनजाने

इन्द्रिय विषय से निवृत्त हो जाती है-पर विषय के प्रति जो राग (रस) होता है वह बना रहता है। व्यक्ति की विषय-भोग की लालसा और आसक्ति चित्त में स्थिर रहती है। यह इन्द्रिय-निग्रह नहीं है। वास्तविक इन्द्रिय-निग्रह उसे कहते हैं जिसमें विषयों के प्रति राग भी निवृत्त हो जाए। आचार्य शङ्कर ने व्याख्या में लिखा है कि इस योगी की यह रागात्मक सूक्ष्म आसक्ति भी परमार्थतत्त्व रूप ब्रह्म का प्रत्यक्ष दर्शन होने पर निवृत्त हो जाती हैं। 'मैं ही वह ब्रह्म हूँ' इस प्रकार का भाव दृढ़ हो जाने पर उसका विषय-विज्ञान निर्बीज हो जाता है। अभिप्राय है कि सम्यक् ज्ञान के बिना राग का उच्छेद नहीं होता है इसलिए आत्मज्ञान-भावना ही दृढ़ करनी चाहिए।

टिप्पणी–निराहारस्य-निर्गत आहारात् इति निराहार: तस्य निराहारस्य (तत्पुरुष)। यद्वा नास्ति आहार: यस्य स: तस्य निराहारस्य (बहुव्रीहि)। **दृष्ट्वा**-√दृश् (देखना) +क्त्वा। **देहिनः**-देह: अस्य अस्ति इति देही, तस्य। देह+इन् प्रत्यय-देही। **रसवर्जम्**-रसं वर्जयित्वा। 'रस' का अर्थ राग है। इससे आसक्ति, लालसा का अभिप्राय है। **निवर्तते**-नि+√वृत् (होना), लट्, प्र०पु०एक०। **परम्**-'परम्' परमार्थतत्त्व का वाचक पद है। वह तत्त्व जो सर्वश्रेष्ठ, सर्वोच्च और परम है जिसके ऊपर कुछ नहीं, वह 'पर' पद से वाच्य है।

शाङ्करभाष्य–तत्र विषयान् अनाहरत आतुरस्य अपि इन्द्रियाणि निवर्तन्ते कूर्माङ्गानि इव संह्रियते, न तु तद्विषयो राग:, स कथं संह्रियते, इति उच्यते–

यद्यपि विषयोपलक्षितानि विषयशब्दवाच्यानि इन्द्रियाणि अथ वा विषया एव निराहारस्य अनाह्रियमाणविषयस्य कष्टे तपसि स्थितस्य मूर्खस्य अपि विनिवर्तन्ते देहिनो देहवत:, रसवर्जं रसो रागो विषयेषु य: तं वर्जयित्वा। रसशब्दो रागे प्रसिद्ध: 'स्वरसेन प्रवृत्तो रसिका रसज्ञ:' इत्यादिदर्शनात्। स अपि रसो रञ्जनरूप: सूक्ष्म: अस्य यते: परं परमार्थतत्त्वं ब्रह्म दृष्ट्वा उपलभ्य अहम् एव तद् इति वर्तमानस्य निवर्तते निर्बीजं विषयविज्ञानं सम्पद्यते इत्यर्थ:। न असति सम्यग्दर्शने रसस्य उच्छेद:, तस्मात् सम्यग्दर्शनात्मिकाया: प्रज्ञाया: स्थैर्यं कर्तव्यम् इति अभिप्राय:। (59)

Eng. Tran.—

The objects of sense turn away from the embodied soul who abstains from feeding on them, but the taste for them remains. Even the taste turns away when the Supreme is seen. (59)

• • •

इन्द्रियाँ अत्यन्त बलवान् हैं।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।६०।।

अन्वय और अर्थ–**कौन्तेय**=हे कुन्तीपुत्र!, **यततः**=प्रयत्न करते हुए, **अपि**=भी, **विपश्चितः**=विद्वान् (ज्ञानी), **पुरुषस्य**=पुरुष का, **मनः**=मन, **हि**=निश्चय ही, **प्रमाथीनि**=(मन का) मन्थन करने वाली, **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियाँ, **प्रसभम्**=जबरदस्ती, **हरन्ति**=हर ले जाती हैं।

व्याख्या–अर्जुन के तीसरे प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने बताया कि स्थितप्रज्ञ इन्द्रियों को विषयों से समेट लेता है और विषयों में राग को भी छोड़ देता है। अब उसी प्रसंग में वे इन्द्रियों को वश में रखने की महत्ता पर प्रकाश डाल रहे हैं। वे कहते हैं कि हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन! ये इन्द्रियाँ अत्यधिक प्रबल हैं अतः बड़ी कठिनाई से मनुष्य के वश में आती हैं। एक साधक शास्त्रों के अध्ययन और गुरु के उपदेश के अनुसार आचरण करते हुए इनको संयम में रखना चाहता है और इनको बाहरी विषयों की ओर जाने से रोककर अन्तर्मुख करना चाहता है, तब भी ये जबरदस्ती उसके मन को सांसारिक विषयों की ओर खींच कर ले जाती हैं। विश्वामित्र ऋषि जैसे अनेक तपस्वियों की वर्षों की साधना इन्द्रियों की चंचलता से क्षण भर में भंग हो गयी थी। इन्द्रियों को उनके विषयों से विमुख रखकर स्थितप्रज्ञ साधक उनको पूरी तरह नियन्त्रण में रखता है। इन्द्रियों को वश में रखना कठिन है परन्तु परम आवश्यक भी है। जिसके वश में 'इन्द्रियाँ' हो जाएं, वही स्थितप्रज्ञ हो सकता है।

टिप्पणी–**यततः**-√यत् (यत्न करना)+शतृ, पुं०, षष्ठी एक०। **प्रमाथीनि**-प्र+√मथ् (मथना)+णिनि। विशेषरूप से मथने वाली; नपुं०, प्रथमा बहु०। **विपश्चितः**-वि+प्र+√चित् (जानना-पहचानना)+क्विप्। पुं०षष्ठी एक०। विप्रकृष्टं चेतति, चिनोति, चिन्तयति वा। **कौन्तेय**-कुन्ती+ढक्-एय; कुन्ती का पुत्र। युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन को यह विशेषण दिया जाता है।

शाङ्करभाष्य–सम्यग्दर्शनलक्षणप्रज्ञास्थैर्यं चिकीर्षता आदौ इन्द्रियाणि स्ववशे स्थापयितव्यानि यस्मात् तदनवस्थापने दोषम् आह–

यततः प्रयत्नं कुर्वतः अपि हि यस्मात् कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितो मेधाविनः अपि इति व्यवहितेन सम्बन्धः। इन्द्रियाणि प्रमाथीनि प्रमथनशीलानि विषयाभिमुखं हि पुरुषं विक्षोभयन्ति आकुलीकुर्वन्ति। आकुलीकृत्य च हरन्ति प्रसभं प्रसह्य प्रकाशम् एव पश्यतो विवेकविज्ञानयुक्तं मनः। (60)

Eng. Tran.—

Even though a man may ever strive (for perfection) and be ever so discerning. O Son of Kuntī (Arjuna), his impetuous senses will carry off his mind by force. (60)

• • •

जिसके वश में इन्द्रियां हैं वही स्थितप्रज्ञ है।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६१।।

अन्वय और अर्थ–युक्तः=योगी, **तानि**=उन, **सर्वाणि**=सब, (**इन्द्रियाणि**= इन्द्रियों) को, **संयम्य**=नियन्त्रण में करके, **मत्परः**=मेरा चिन्तन करते हुए, **आसीत**=स्थित होता है, **यस्य**=जिसकी, **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियां, **हि**=निश्चय ही, **वशे**=वश में हैं, **तस्य**= उसकी, **प्रज्ञा**=प्रज्ञा, **प्रतिष्ठिता**=प्रतिष्ठित है।

व्याख्या–अर्जुन के तीसरे प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने बताया कि स्थितप्रज्ञ इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त करके और उन विषयों में आसक्ति को त्याग कर अपने सांसारिक व्यवहार करता है। स्थितप्रज्ञता के लिए इन्द्रियों को वश में करना आवश्यक है। इसी सन्दर्भ में पुनः कहते हैं कि इतनी बलवान् इन्द्रियों को जो वश में कर ले तो समझो कि वह बुद्धि को ही प्रतिष्ठित कर चुका है। वस्तुतः इन्द्रियों के वशीकरण के साथ चंचल मन को भी वशीभूत रखना अनिवार्य है, तब कहीं जाकर बुद्धि अपने स्थान पर टिकी रहती है। भगवान् ने बताया है कि जो कठिनतम प्रथम चरण साध लेता है वही आगे बढ़ते हुए अपनी साधना को सफलता की मंजिल तक पहुंचा सकता है। श्रीकृष्ण भगवान् का अर्जुन को आदेश है कि उन सब इन्द्रियों को पूरी तरह से संयत करके अन्तर्मुख हो जाना चाहिए और 'मत्परायण' होकर बैठना चाहिए। जो ऐसा करता है उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है। 'मत्पर' का अभिप्राय है–'मुझ वासुदेव को ही सर्वोत्कृष्ट मानता है' अथवा 'मैं उस परमात्मा से भिन्न नहीं हूँ', ऐसा मानता है। आत्मज्ञान के अभ्यास से उसकी चित्त की 'विक्षेप' नामक वृत्ति दब जाती है। अतः साधक आत्मपरायणता से अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को वश में कर सकता है।

भगवान् ने स्थितप्रज्ञता के लिए इन्द्रियों के संयम को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मान कर ही यहाँ कहा है कि जिसके वश में इन्द्रियाँ हैं, उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित है।

टिप्पणी–संयम्य-सम्+√यम् (रोकना)+ल्यप्। **युक्तः**-√युज् (मिलाना)+क्त।

आसीत-√आस् (बैठना), विधिलिङ्, प्र०पु०एक०। **मत्परः**-मयि परः (सप्तमी तत्पुरुष)। अहं (वासुदेवःसर्वप्रत्यगात्मा) परो यस्य सः मत्परः (बहुव्रीहि)। आत्मा से भिन्न पदार्थों के दोषों को बार-बार देखकर आत्मा के यथार्थ स्वरूप के निश्चय का अभ्यास करना चाहिए।

शाङ्करभाष्य–यतः यस्मात्–तानि सर्वाणि संयम्य संयमनं वशीकरणं कृत्वा युक्तः समाहितः सन् आसीत मत्परः अहं वासुदेवः सर्वप्रत्यगात्मा परो यस्य स मत्परो न अन्यः अहं तस्माद् इति आसीत इत्यर्थः। एवम् आसीनस्य यतेः वशे हि यस्य इन्द्रियाणि वर्तन्ते अभ्यासबलात् तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। (61)

Eng. Tran.—

Having brought all the senses under control, he should remain firm in *yoga* intent on Me; for he, whose senses are under control, his intelligence is firmly set. (61)

• • •

विषयों के चिन्तन से अन्ततः मनुष्य का नाश हो जाता है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।। ६२।।

अन्वय और अर्थ–**विषयान्**=विषयों का, **ध्यायतः**=ध्यान करने वाले, **पुंसः**=मनुष्य की, **तेषु**=उन (विषयों) में, **सङ्गः**=आसक्ति, **उपजायते**=उत्पन्न हो जाती है। **सङ्गात्**=आसक्ति से, **कामः**=कामना, **सञ्जायते**=उत्पन्न होती है। **कामात्**=काम से, **क्रोधः**=क्रोध, **अभिजायते**=उत्पन्न होता है।

क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। ६३।।

अन्वय और अर्थ–**क्रोधात्**=क्रोध से, **सम्मोहः**=अविवेक, **भवति**=होता है। **सम्मोहात्**=अविवेक से, **स्मृतिविभ्रमः**=स्मृति में भ्रम (पैदा होता है)। **स्मृतिभ्रंशात्**=स्मृति में भ्रम से, **बुद्धिनाशः**=बुद्धि का नाश (होता है), **बुद्धिनाशात्**=(और) बुद्धि के नाश से, **प्रणश्यति**=(मनुष्य का) पूर्णतः नाश हो जाता है।

व्याख्या–स्थितप्रज्ञ के स्वरूप-विवेचन के अन्तर्गत भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बताया कि स्थितप्रज्ञता के लिए इन्द्रियों और मन का निग्रह करना अति अनिवार्य

है। मनुष्य की इन्द्रियाँ बहुत प्रबल हैं, वे बलात् उसके मन को विषयों की ओर ले जाती हैं। एक स्थितप्रज्ञ साधक अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से उसी प्रकार हटा लेता है, जैसे कोई कछुआ डरने पर सब ओर से अपने अङ्गों को सिकोड़ लेता है। इन्द्रियों के साथ मन को वश में रखना मनुष्य के लिए परम आवश्यक है अन्यथा उसको नाश रूप परिणाम भोगना पड़ता है। यहाँ इन दो श्लोकों द्वारा भगवान् ने मन पर नियन्त्रण न होने पर होने वाली हानियाँ बतलाई हैं। मन के अनिग्रह के कारण होने वाली अनर्थ-परम्परा के सात स्तर यहाँ क्रमशः निर्दिष्ट हैं –

1. दसों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का ज्ञान कराती हैं। मन का कार्य संकल्प-विकल्प करना है, इसलिए वह सभी इन्द्रियों के विषयों का अनुभव चिन्तन के द्वारा कर सकता है। यदि मनुष्य सांसारिक विषयों का चिन्तन करता रहता है तो उसकी उन-उन विषयों में आसक्ति (**सङ्ग**) बढ़ जाती है। 'ये विषय आनन्द देने वाले हैं' उसकी ऐसी भावना पुष्ट होती जाती है।
2. उसकी ऐसी भावना पुष्ट होने के कारण विषयों में सङ्ग से उसमें उनको पाने की इच्छा (**काम**) उत्पन्न होती है।
3. यदि किसी कारण से यह काम भाव पूरा न हो तो इससे उसमें उनके न मिलने का गुस्सा (**क्रोध**) उत्पन्न हो जाता है।
4. क्रोध के कारण अविवेक (**सम्मोह**) होता है। वह विवेक-बुद्धि जो उचित और अनुचित में भेद कर पाती है, क्रोध की अवस्था में क्षीण हो जाती है।
5. सम्मोह होने से मनुष्य की यादगार भ्रष्ट (**स्मृति-विभ्रम**) हो जाती है। मनुष्य का समस्त अर्जित ज्ञान और अनुभव उसकी स्मृति में रहता है जो समय पड़ने पर उसको उचित मार्ग दिखाने में सहायता करता है।
6. स्मृतिभ्रंश से मनुष्य के निर्णय करने के सामर्थ्य का लोप (**बुद्धिनाश**) हो जाता है। जब उचित और अनुचित के हेतु ही समय पर याद न आयें तो व्यक्ति निर्णय कैसे ले पाएगा?
7. बुद्धिनाश के कारण मनुष्य अपने लक्ष्य को पाने के अयोग्य हो जाता है, अतः उसका ही **पूरी तरह विनाश** समझा जाना चाहिए।

इस प्रकार मन को वश में न रखने पर अन्ततः मनुष्य पूर्णतया नष्ट हो जाता है–यह बतलाकर भगवान् ने मनोनिग्रह की आवश्यकता पर बल दिया है।

टिप्पणी–ध्यायतः–√ध्यै (ध्यान करना) + शतृ, ध्यायन्, पुं०, षष्ठी एक०।

उपजायते–उप+√जन् (उत्पन्न होना), लट्, प्र०पु०एक०। **स्मृतिविभ्रमः**–स्मृतेः विभ्रमः (षष्ठी तत्पुरुष)। **बुद्धिनाशः**–बुद्धेः नाशः (षष्ठी तत्पुरुष)। **प्रणश्यति**–प्र+√नश् (नष्ट होना), लट्, प्र० पु० एक०।

शाङ्करभाष्य–अथेदानीं पराभविष्यतः सर्वानर्थमूलम् इदम् उच्यते–ध्यायतः चिन्तयतो विषयान् शब्दादिविषयविशेषान् आलोचयतः पुंसः पुरुषस्य सङ्ग आसक्तिः प्रीतिः तेषु विषयेषु उपजायते। सङ्गात् प्रीतेः कामः संजायते समुत्पद्यते कामः तृष्णा। तस्मात् कामात् कुतश्चित् प्रतिहतात् क्रोधोः अभिजायते। (62)

क्रोधाद् भवति सम्मोहः अविवेकः कार्याकार्यविषयः; क्रुद्धो हि सम्मूढः सन् गुरुम् अपि आक्रोशति। सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः शास्त्राचार्योपदेशाहितसंस्कारजनितायाः स्मृतेः स्याद्विभ्रमो भ्रंशः स्मृत्युत्पत्तिनिमित्तप्राप्तौ अनुत्पत्तिः। ततः स्मृतिभ्रंशाच्च बुद्धेर्नाशः। कार्याकार्यविवेकायोग्यता अन्तःकरणस्य बुद्धेर्नाश उच्यते। बुद्धिनाशात् प्रणश्यति। तावद् एव हि पुरुषो यावद् अन्तःकरणं तदीयं कार्याकार्यविवेकयोग्यम् तदयोग्यत्वे नष्ट एव पुरुषो भवति। अतः तस्य अन्तःकरणस्य बुद्धेः नाशात् प्रणश्यति पुरुषार्थायोग्यो भवति इत्यर्थः। (63)

Eng. Tran.—

When a man dwells in his mind on the objects of sense, attachment to them is produced. From attachment springs desire and from desire comes anger. (62)

From anger arises bewilderment, from bewilderment loss of memory, and from loss of memory, the destruction of intelligence, and from the destruction of intelligence he perishes. (63)

• • •

स्थितप्रज्ञ इन्द्रियों को वश में रखकर विषयों का ग्रहण करता है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।। ६४।।

अन्वय और अर्थ–**विधेयात्मा**=अन्तःकरण को अपने वश में रखने वाला (साधक), **तु**=तो, **रागद्वेषवियुक्तैः**=आसक्ति और द्वेष से रहित हुईं, **आत्मवश्यैः**=अपने वश में रहने वाली, **इन्द्रियैः**=इन्द्रियों से, **विषयान्**=विषयों में, **चरन्**=विचरता हुआ, **प्रसादम्**=प्रसन्नता को, **अधिगच्छति**=प्राप्त करता है।

व्याख्या–स्थितप्रज्ञ विषयक अर्जुन के चौथे प्रश्न, कि स्थितप्रज्ञ अपनी बहिर्गामी क्रियाएँ कैसे करता है, का उत्तर भगवान् ने इन आठ श्लोकों में दिया है। श्रीकृष्ण ने यहाँ बताया है कि वह इन्द्रियों को अपने वश में रखकर विषयों से सम्पर्क करता है। इन्द्रियों की अपने विषयों में प्रवृत्ति स्वभाव से ही आसक्ति या वैर के साथ होती है, परन्तु जो साधक अभ्यासपूर्वक अपने मन को वश में कर लेता है, उसकी इन्द्रियाँ भी उसके वश में हो जाती हैं। उपनिषदों में इन्द्रियों को घोड़े और मन को उनको नियन्त्रण में रखने वाली लगाम कहा गया है। जब मन रूपी लगाम सधी हुई हो, तो इन्द्रिय रूपी अश्व स्वतः नियन्त्रित हो जाते हैं। स्थितप्रज्ञ साधक की वश में रहने वाली इन्द्रियाँ आसक्ति और द्वेष आदि भावों से मुक्त होती हैं। टिकी हुई प्रज्ञा वाला साधक अवसर के अनुसार कर्मों को करने के लिए इन्द्रियों का उनके विषयों से संयोग कराता हुआ सांसारिक व्यवहारों में संलग्न होता है परन्तु मन और इन्द्रियों को अपने वश में रखने के कारण उसकी किसी भी विषय में न आसक्ति होती है और न द्वेष, फलतः वह अन्दर ही अन्दर अपने चित्त में प्रसन्नता का अनुभव करता रहता है। 'प्रसाद' से मन की निर्मलता का तात्पर्य है। इससे वह सदा आनन्द की स्थिति में रहता है। अपने स्वभाव में स्थित रहना या आत्मस्वरूप की प्रतीति ही प्रसाद है।

टिप्पणी–**रागद्वेषवियुक्तैः**–रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ, रागद्वेषाभ्यां वियुक्तैः (तृतीया तत्पुरुष)। **आत्मवश्यैः**–आत्मनः वश्यैः (षष्ठी तत्पुरुष)। **विधेयात्मा**–विधेय आत्मा यस्य सः विधेयात्मा (बहुव्रीहि)। शङ्कराचार्य के अनुसार यहाँ आत्मा से अन्तःकरण अभिप्रेत है। **चरन्**–√चर् (जाना), शतृ, पुं०, प्रथमा एक०।

शाङ्करभाष्य–सर्वानर्थस्य मूलमुक्तं विषयाभिध्यानम्। अथ इदानीं मोक्षकारणमिदमुच्यते–रागद्वेषवियुक्तैः रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ। तत्पुरस्सरा हि इन्द्रियाणां प्रवृत्तिः स्वाभाविकी। तत्र यो मुमुक्षुः भवति स ताभ्यां वियुक्तैः श्रोत्रादिभिः इन्द्रियैः विषयान् अवर्जनीयांश्चरन् उपलभमान आत्मवश्यैः आत्मनो वश्यानि वशीभूतानि तैः आत्मवश्यैः विधेयात्मा इच्छातो विधेय आत्मा अन्तःकरणं यस्य, सः अयं प्रसादम् अधिगच्छति। प्रसादः प्रसन्नता स्वास्थ्यम्। (64)

Eng. Tran.—

But a man of disciplined mind, who moves among the objects of sense, with the senses under control and free from attachment and aversion, he attains purity of spirit. (64)

• • •

चित्त की निर्मलता से सब दुःखों का नाश होता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां ह्यनिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।। ६५।।

अन्वय और अर्थ—प्रसादे=(चित्त की) शुद्धि होने पर, **अस्य**=इसके, **सर्वदुःखानाम्**=सब दुःखों का, **हानिः**=क्षय, **उपजायते**=हो जाता है। **प्रसन्नचेतसः**=शुद्ध (प्रसन्न) चित्त वाले, (**अस्य**=इस साधक) की, **हि**=निश्चय ही, **बुद्धिः**=बुद्धि, **आशु**=शीघ्र, **पर्यवतिष्ठते**=भली-भाँति स्थिर हो जाती है।

व्याख्या—स्थितप्रज्ञ अपनी बाह्य क्रियाएँ कैसे करता है, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् इस दूसरे श्लोक में कहते हैं कि जब साधक अपनी राग और द्वेष से रहित हुई इन्द्रियों द्वारा विषयों का सेवन करता है तब उसका चित्त निर्मलता को प्राप्त करता है जिसे 'प्रसाद' कहा गया है। चित्त की शुद्धि अर्थात् प्रसाद होने पर उसकी बुद्धि आत्मस्वरूप में स्थित हो जाती है। तात्पर्य है कि चित्त की निर्मलता का फल है—शीघ्रता से आत्मज्ञान की निष्ठा का होना। इस स्थिति में साधक आत्मा के बुद्धिविकार-रहित, स्वच्छ स्वरूप को जानता है। उसका अज्ञान और द्वैतभाव रूप मल निवृत्त हो जाता है, फलतः द्वैत पर आधारित सभी प्रकार के दुःख समाप्त हो जाते हैं। दुःखों का मूल अपने को कर्ता और भोक्ता समझना है। बुद्धि स्थिर होने से दुःखों का मूल ही समाप्त हो जाता है। इसीलिए भगवान् ने स्पष्ट किया है कि स्थितप्रज्ञ सदा दुःखरहित और प्रसन्नचित्त रहता है। दुःखों के विनाश का आधार 'चित्तप्रसाद' है, जिसको स्थितप्रज्ञ प्राप्त कर लेता है। अतः इन्द्रिय और मन को वश में करने से चित्तप्रसाद, और चित्तप्रसाद से बुद्धि-पर्यवस्थान की स्थिति प्राप्त होती है। इस स्थिति का परिणाम है-अज्ञानमूलक दुःखों की निवृत्ति। अतः मन को वश में करके चित्त की निर्मलता को पाने का यत्न करना चाहिए।

टिप्पणी—सर्वदुःखानाम्-सर्वाणि च तानि दुःखानि इति तेषाम् (कर्मधारय)। **प्रसन्नचेतसः**-प्रसन्नं चेतः यस्य स तस्य प्रसन्नचेतसः (बहुव्रीहि)। 'प्रसन्नचित्तवाले' से शङ्कराचार्य ने 'स्वस्थ अन्तःकरण वाले' का अर्थ लिया है। **उपजायते**-उप+√जन् (उत्पन्न होना), लट्, प्र०पु०एक०। **पर्यवतिष्ठते**-परि+अव+√स्था-तिष्ठ् (बैठना), लट्, प्र०पु०एक०।

शाङ्करभाष्य—प्रसादे सति किं स्यात्, इति उच्यते-प्रसादे सर्वदुःखानाम् आध्यात्मिकादीनां हानिः विनाशः अस्य यतेः उपजायते। किं च प्रसन्नचेतसः स्वस्थान्तःकरणस्य हि यस्माद् आशु शीघ्रं बुद्धिः पर्यवतिष्ठते आकाशम् इव परि समन्ताद्

अवतिष्ठते आत्मस्वरूपेण एव निश्चलीभवति इत्यर्थः। एवं प्रसन्नचेतसः अवस्थितबुद्धेः कृतकृत्यता यतः तस्माद् रागद्वेषवियुक्तैः इन्द्रियैः शास्त्राविरुद्धेषु अवर्जनीयेषु युक्तः समाचरेद् इति वाक्यार्थः। (65)

Eng. Tran.—

And in that purity of spirit, there is produced for him an end of all sorrow; the intelligence of such a man of pure spirit is soon established (in the peace of the Self). (65)

• • •

मन की एकाग्रता न होने से चार हानियाँ होती हैं।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।।६६।।

अन्वय और अर्थ–अयुक्तस्य=मन की एकाग्रता से रहित पुरुष को, **बुद्धिः**=आत्मज्ञान, **नास्ति**=नहीं होता, **च**=और, **अयुक्तस्य**=मन की एकाग्रता से रहित पुरुष की, **भावना**=आत्मज्ञान में रुचि भी, **न**=नहीं होती है। **च**=और, **अभावयतः**=आत्मा को जानने में रुचि से रहित को, **शान्तिः**=शान्ति (अज्ञान की निवृत्ति), **न**=नहीं होती है; **अशान्तस्य**=(और)अज्ञान की निवृत्ति से रहित को, **सुखम्**=सुख, **कुतः**=कहां से होगा?

व्याख्या–अर्जुन के स्थितप्रज्ञ विषयक तीसरे प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने इकसठवें श्लोक में इन्द्रियों और मन को वश में करके आत्मपरायण होने का उपदेश दिया। पुनः चतुर्थ प्रश्न के उत्तर में भी मन और इन्द्रियों को वश में करके चित्तप्रसाद प्राप्त करने की बात की। अब तक उन्होंने अन्वयमुखेन मनोयोग का महत्व बताया है। इस श्लोक में व्यतिरेकमुखेन मनोयोग की प्रशंसा कर रहे हैं, क्योंकि यहाँ मन का अयोग अर्थात् अनेकाग्रता से होने वाली हानियों का विवेचन किया गया है।

जो व्यक्ति अपने चित्त को एकाग्र नहीं कर पाता है उसको चार प्रकार की हानियाँ उठानी पड़ती हैं–(1) मन की एकाग्रता से रहित को कभी भी 'बुद्धि' नहीं होती है। यहां 'बुद्धि' का अभिप्राय आत्मज्ञान की बुद्धि से है। तात्पर्य है कि असमाहित चित्त वाले को कभी भी आत्मज्ञान नहीं होता है। (2) मन की एकाग्रता से रहित व्यक्ति को भावना अर्थात् आत्मज्ञान में रुचि या प्रीति भी नहीं होती है। (3) जब उसकी भावना अर्थात् आत्मज्ञान में रुचि ही नहीं है तो उसकी शान्ति अर्थात् विषयों की लालसा से

मुक्ति भी नहीं होती है क्योंकि उसका अज्ञान वैसे का वैसा बना रहता है। पहले कहा जा चुका है कि अज्ञान ही दु:खों का मूल है। (4) और जो अशान्त अर्थात् अज्ञान की निवृत्ति से रहित है उसे सुख कैसे मिल सकता है? विषयों से इन्द्रियों की निवृत्ति होने पर सुख होता है। इन्द्रियों द्वारा विषयों की लालसा करना सब प्रकार के दु:खों का कारण है।

आचार्य शङ्कर ने लिखा है कि तृष्णा के रहते हुए तो सुख की गन्धमात्र भी नहीं मिलती। अत: साधक के लिए मनोयोग परम आवश्यक है।

टिप्पणी–अयुक्तस्य-न युक्तस्य (नञ् तत्पुरुष)। **अभावयत:**-न भावयत: (नञ् तत्पुरुष)। आत्मज्ञान में प्रगाढ़ प्रवेश या प्रीति 'भावना' है। **अशान्तस्य**-न शान्तस्य (नञ् तत्पुरुष)।

शाङ्करभाष्य–सा इयं प्रसन्नता स्तूयते–न अस्ति न विद्यते न भवति इत्यर्थ:, बुद्धि: आत्मस्वरूपविषया अयुक्तस्य असमाहितान्त: करणस्य। न च अस्ति अयुक्तस्य भावना आत्मज्ञानाभिनिवेश:। तथा न च अस्ति अभावयत आत्मज्ञानाभिनिवेशम् अकुर्वत: शान्ति: उपशम:। अशान्तस्य कुत: सुखम्, इन्द्रियाणां हि विषयसेवातृष्णातो निवृत्ति: या तत् सुखम्, न विषयविषया तृष्णा, दु:खम् एव हि सा। न तृष्णायां सत्यां सुखस्य गन्धमात्रम् अपि उपपद्यते इत्यर्थ:। (66)

Eng. Tran.—

For the uncontrolled, there is no intelligence; nor for the uncontrolled is there the power of concentration and for him without concentration, there is no peace, and for the unpeaceful, how can there be happiness ? (66)

• • •

इन्द्रियों के पीछे चलने वाला अनेकाग्र मन प्रज्ञा को नष्ट करता है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।। ६७।।

अन्वय और अर्थ–चरताम्=(विषयों में) भटकने वाली, **इन्द्रियाणाम्**= इन्द्रियों के पीछे, **हि**=निश्चय ही, **यत्**=जो, **मन:**=मन, **अनुविधीयते**=दौड़ता है, **तत्**=वह, **अस्य**=इस (साधक) की, **प्रज्ञाम्**=बुद्धि को, **वायु:**=(जिस प्रकार) वायु, **अम्भसि**= जल में (पड़ी), **नावम्**=नाव को (उड़ा ले जाता है), **इव**=उसी प्रकार, **हरति**=हर ले जाता है।

व्याख्या–भगवान् श्रीकृष्ण ने स्थितप्रज्ञ के स्वरूप–विवेचन के अन्तर्गत अर्जु को समझाया कि इन्द्रियों का निग्रह जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक है म का निग्रह। मन की एकाग्रता साधक के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यदि मन चंचलता होती है तो वह अपने-अपने विषयों के प्रति भटकने वाली इन्द्रियों के पीछे-पीछे चल देता है। इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने में प्रवृत्त हुआ मन अप साथ साधक की आत्मज्ञान की प्रज्ञा को भी नष्ट कर देता है। जैसे पानी में पड़ी नौक तेज हवा के थपेड़ों से सही रास्ते से हटकर गलत रास्ते पर लग जाती है, वैसे ही इन्द्रियानुविधायी मन प्रज्ञा को हर कर साधक को विषयों में लगा देता है। कठोपनिषद (1.3.3-5) में इन्द्रियों को घोड़े, मन को लगाम और बुद्धि को सारथि बताया गया है। मन नियन्त्रित हो तो इन्द्रियाँ नियन्त्रण में रहती हैं जैसे कसी लगाम घोड़ों को नियंत्रि रखती है। जब तक लगाम सावधानीपूर्वक सारथि के हाथों में होती है, घोड़े वश में रहते हैं। परन्तु यदि लगाम ही सारथि के हाथ से छूट जाये, तो घोड़े नियन्त्रण में नहीं रहते और फिर सारथि का भी नाश निश्चित है। इसलिए चित्त की एकाग्रता से रहित मनुष्य आत्मज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता है।

टिप्पणी–चरताम्-√चर् (चलना) + शतृ, नपुं०, षष्ठी बहु०। **हरति**–√हृ (ले जाना), लट्, प्र० पु० एक०। **अनुविधीयते**–अनु+वि+√धा (धारण करना) + णिच्, लट्, प्र०पु०एक०।

शाङ्करभाष्य–अयुक्तस्य कस्माद् बुद्धिर्नास्ति? इति उच्यते। इन्द्रियाणां हि यस्माद् चरतां स्वस्वविषयेषु प्रवर्तमानानां यद् मनो: अनुविधीयते अनुप्रवर्तते तद् इन्द्रियविषय-विकल्पने प्रवृत्तं मन: अस्य यतेर्हरति प्रज्ञाम् आत्मानात्मविवेकजां नाशयति। कथम्? वायु: नावम् इव अम्भसि उदके जिगमिषतां मार्गाद् उद्धृत्य उन्मार्गे यथा वायुर्नावं प्रवर्तयति, एवम् आत्मविषयां प्रज्ञां हृत्वा मनो विषयविषयां करोति। (67)

Eng. Tran.—

When the mind runs after the roving senses, it carries away the understanding, even as a wind carries away a ship on the waters. (67)

• • •

इन्द्रियों का संयम आवश्यक है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। ६८।।

अन्वय और अर्थ—**तस्मात्**=अत:, **महाबाहो**=हे महाबाहु!, **यस्य (पुरुषस्य)**= जिसे (पुरुष)की, **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियाँ, **इन्द्रियार्थेभ्य:**=इन्द्रिय के विषयों से, **सर्वश:**= सब प्रकार से, **निगृहीतानि**=वश में की हुई होती हैं, **तस्य**=उसकी, **प्रज्ञा**=बुद्धि, **प्रतिष्ठिता**=स्थित है।

व्याख्या—स्थितप्रज्ञ के विषय में भगवान् ने पहले कहा है कि वह अपनी समस्त बहिर्गामी वृत्तियों को संयत कर लेता है और उसका मन एवं इन्द्रियाँ उसके वश में रहते हैं। इन्द्रियाँ स्वभाव से चंचल होती हैं, वे स्वयं विषयों की ओर भागती रहती हैं और साथ ही मन को भी अपनी ओर खींचती हैं। अत: आत्मज्ञान के साधक के लिए इन्द्रियों को विषयों की ओर से विमुख करना अत्यन्त आवश्यक है।

भगवान् 'महान् भुजाओं वाले' (महाबाहु) कहकर अर्जुन को उसका पराक्रम याद दिलाना चाहते हैं। वे उक्त विषय की चर्चा में इन्द्रिय-संयम को पुन: दोहरा कर यह स्पष्ट करते हैं कि जिस साधक ने अपनी इन्द्रियों को उनके अपने-अपने शब्द आदि विषयों से खींच कर सब प्रकार से नियन्त्रित कर लिया है उसी की आत्मज्ञाननिष्ठा में बुद्धि (प्रज्ञा) स्थिर समझनी चाहिए। साधक को स्थितप्रज्ञता प्राप्त करने के लिए इन्द्रियों को वश में रखना अनिवार्य रूप से अति आवश्यक है। इसमें अल्पमात्र भी प्रमाद का अवकाश नहीं है। संक्षेप में यह समझना चाहिए कि इन्द्रियों का संयमी ही आत्मज्ञान में दृढ़ प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।

टिप्पणी—**महाबाहो**-महान्तौ बाहू यस्य स:, तत्सम्बुद्धौ महाबाहो। **निगृहीतानि**-नि+√ग्रह्(ग्रहण करना)+क्त; नपुं०, प्र०बहु०। **प्रतिष्ठिता**-प्रति+√स्था (रहना)+क्त, स्त्री०; अवस्थित।

शाङ्करभाष्य—'यततो ह्यपि' इति उपन्यस्तस्य अर्थस्य अनेकधा उपपत्तिम् उक्त्वा तं चं अर्थम् उपपाद्य उपसंहरति—

इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ दोष उपपादितो यस्मात्-तस्माद् यस्य यते: हे महाबाहो निगृहीतानि सर्वश: सर्वप्रकारै: मानसादिभेदै: इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्य: शब्दादिभ्य: तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। (68)

Eng. Tran.—

Therefore, O Mighty-armed (Arjuna), he whose senses are all withdrawn from their objects—his intelligence is firmly set. (68)

• • •

संसारी और ज्ञानी में रात-दिन का अन्तर है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।। ६९ ।।

अन्वय और अर्थ—**सर्वभूतानाम्**=समस्त प्राणियों के लिए, **या**=जो, **निशा**=रात्रि है, **तस्याम्**=उसमें, **संयमी**=संयमशील व्यक्ति, **जागर्ति**=जागते रहता है। **यस्याम्**=जिसमें, **भूतानि**=समस्त प्राणी, **जाग्रति**=जागते हैं, **सा**=वह, **पश्यतः**=परमज्ञानी, **मुनेः**=मुनि के लिए, **निशा**=रात्रि होती है।

व्याख्या—स्थितप्रज्ञ के लिए अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है और अज्ञान के कार्य समस्त सांसारिक व्यवहारों की भी निवृत्ति हो जाती है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए यहाँ रात्रि और दिन के दृष्यन्त द्वारा ज्ञानी और संसारी का भेद समझाया जा रहा है। मन और इन्द्रियों को वश में रखने वाला संयमी ज्ञानी परमार्थतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करता है। परमार्थतत्त्व अर्थात् आत्मा जो स्थितप्रज्ञ का विषय है, यहां रात्रि कहा गया है। अज्ञान के अभ्यस्त संसारी लोगों को परमार्थतत्त्व की बुद्धि नहीं होती है। इसलिए उनके लिए यह तत्त्व, रात्रि की भाँति है। संसारी लोग आत्मज्ञान के प्रति सोये रहते हैं जैसे कि वह निशा हो। पर अज्ञाननिद्रा से जगा हुआ संयमी उस परमार्थतत्त्वरूपी रात्रि में जागता है। तभी कहा गया है कि समस्त अज्ञानी प्राणियों के लिए जो निशा है, उसमें ज्ञानी जागता है।

दूसरी तरफ संसारी लोग का समस्त व्यवहार भेदबुद्धि और अज्ञान पर आधारित होता है। वे लोग संसार के भेदों को ही जागना समझते हैं और उसके आधार पर अपने सब व्यवहार और कर्म सम्पादित करते हैं जैसे कि वह जागरणावस्था या दिन हो। पर ज्ञानी को यह स्थिति अज्ञानावस्था की प्रतीति कराती है जिसमें आत्मज्ञान निवृत्त रहता है। अतः परमज्ञानी मुनि इस अवस्था को निशा समझता है और उसके प्रति उदासीन रहता है।

ज्ञानी परमार्थतत्त्व या आत्मा के ज्ञान को ही सब कुछ समझता है और उसके विपरीत संसारी अज्ञान को ही अपना सर्वस्व मानता है। ज्ञानी आत्मा के यथार्थ स्वरूप को आवृत्त करने वाली भेदबुद्धि को छोड़ देता है जब कि संसारी के सभी व्यवहार भेद-बुद्धि पर आधारित होते हैं। आचार्य शङ्कर ने स्पष्ट किया है कि मनुष्य में ज्ञान का उदय होने पर अज्ञान नष्ट हो जाता है। पर जब तक अज्ञान रहता है, वह समस्त कर्मों और व्यवहारों में प्रवृत्ति का हेतु बनता है। शास्त्रोक्त कर्मों का अधिकारी अज्ञानी ही होता है। आत्मज्ञानी का कर्मों में अधिकार नहीं रहता है। संसारी के लिए परमार्थतत्त्व

रात्रि है और अज्ञानावस्था दिन है, तो ज्ञानी के लिए अज्ञानावस्था रात्रि है और परमार्थतत्व दिन है।

टिप्पणी–सर्वभूतानाम्-सर्वाणि च तानि भूतानि तेषाम् सर्वभूतानाम्। **जागर्ति**-√जागृ (जागना), लट्, प्र०पु०एक०। **जाग्रति**-√जागृ (जागना), लट्, प्र०पु०बहु०। **पश्यतः**-√दृश् (देखना)–पश्य्+शतृ, पुं०, षष्ठी एक०। **संयमी**- सम्+ √यम्(उपरत होना)+णिनि, संयमिन्, निग्रह करने वाला।

शाङ्करभाष्य–यः अयं लौकिको वैदिकः च व्यवहारः स उत्पन्नविवेकज्ञानस्य स्थितप्रज्ञस्य अविद्याकार्यत्वाद् अविद्यानिवृत्तौ निवर्तते। अविद्यायाः च विद्याविरोधाद् निवृत्तिः इति एतम् अर्थं स्फुटीकुर्वन् आह–

या निशा रात्रिः सर्वपदार्थानाम् अविवेककरी तमःस्वभावत्वात् सर्वेषां भूतानां सर्वभूतानाम्। किं तत्, परमार्थतत्त्वं स्थितप्रज्ञस्य विषयः। यथा नक्तञ्चराणाम् अहः एव सद् अन्येषां निशा भवति तद्वद् नक्तञ्चरस्थानीयानाम् अज्ञानां सर्वभूतानां निशा इव निशा परमार्थतत्त्वम् अगोचरत्वाद् अतद्बुद्धीनाम्। तस्यां परमार्थतत्त्वलक्षणायाम् अज्ञाननिद्रायाः प्रबुद्धो जागर्ति संयमी संयमवान् जितेन्द्रियो योगी इत्यर्थः। यस्यां ग्राह्यग्राहकभेदलक्षणायाम् अविद्यानिशायां प्रसुप्तानि एव भूतानि जाग्रति इति उच्यते यस्यां निशायां प्रसुप्ता इव स्वप्नदृशः सा निशा अविद्यारूपत्वात् परमार्थतत्त्वं पश्यतो मुनेः।

अतः कर्माणि अविद्यावस्थायाम् एव चोद्यन्ते न विद्यावस्थायाम्। विद्यायां हि सत्याम् उदिते सवितरि शार्वरम् इव तमः प्रणाशम् उपगच्छति अविद्या। प्राग् विद्योत्पत्तेः अविद्या प्रमाणबुद्ध्या गृह्यमाणा क्रियाकारकफलभेदरूपा सती सर्वकर्महेतुत्वं प्रतिपद्यते। न अप्रमाणबुद्ध्या गृह्यमाणायाः कर्महेतुत्वोपपत्तिः। प्रमाणभूतेन वेदेन मम चोदितं कर्तव्यं कर्म इति हि कर्मणि कर्ता प्रवर्तते न अविद्यामात्रम् इदं सर्वं निशा इव इति। यस्य पुनः निशा इव अविद्यामात्रम् इदं सर्वं भेदजातम् इति ज्ञानं तस्य आत्मज्ञस्य सर्वकर्मसन्न्यासे एव अधिकारो न प्रवृत्तौ।

तथा च दर्शयिष्यति–'तदबुद्धयस्तदात्मानः' इत्यादिना ज्ञाननिष्ठायाम् एव तस्य अधिकारम्। तत्र अपि प्रवर्तकप्रमाणाभावे प्रवृत्त्यनुपपत्तिः इति चेत्।

न, स्वात्मविषयत्वाद् आत्मज्ञानस्य। न हि आत्मनः स्वात्मनि प्रवर्तकप्रमाणापेक्षता आत्मत्वाद् एव तदन्तत्वात् च सर्वप्रमाणानां प्रमाणत्वस्य। न हि आत्मस्वरूपाधिगमे सति पुनः प्रमाणप्रमेयव्यवहारः सम्भवति। प्रमातृत्वं हि आत्मनो निवर्तयति अन्त्यं

प्रमाणम्। निवर्तयद् एव च अप्रमाणीभवति स्वप्नकालप्रमाणम् इव प्रबोधे। लोके च वस्त्वधिगमे प्रवृत्तिहेतुत्वादर्शनात् प्रमाणस्य। तस्माद् न आत्मविदः कर्मणि अधिकार इति सिद्धम्। (69)

Eng. Tran.—

What is night for all beings is the time of waking for the disciplined soul; and what is the time of waking for all beings is night for the sage who sees (or the sage of vision). (69)

• • •

निष्काम ज्ञानी को शान्ति मिलती है सकाम को नहीं।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।। ७०।।

अन्वय और अर्थ–यदवत्=जिस प्रकार, **आपः**=जल, **आपूर्यमाणम्**=सब ओर से भरे जाते हुए, **अचलप्रतिष्ठम्**=(फिर भी) अपनी अविचल मर्यादा को न छोड़ने वाले, **समुद्रम्**=समुद्र में, **प्रविशन्ति**=समा जाते हैं, **तद्वत्**=उसी प्रकार, **यम्**=जिसमें, **सर्वे**=सब, **कामाः**=कामनाएँ, **प्रविशन्ति**=समा जाती हैं, **सः**=वह (व्यक्ति), **शान्तिम्**=मोक्ष, **आप्नोति**=प्राप्त करता है, **न**=न कि, **कामकामी**=संसार के भोगों का इच्छुक कोई व्यक्ति।

व्याख्या–अर्जुन के स्थितप्रज्ञ विषयक चौथे प्रश्न के उत्तर के अन्त में भगवान् निष्काम कर्मयोग से स्थितप्रज्ञ की स्थिति पर पहुंचने वाले मनुष्य को होने वाले लाभ का वर्णन कर रहे हैं कि वही 'शान्ति' प्राप्त करता है। जो साधक निष्काम कर्मयोग के अभ्यास से आत्मज्ञान की प्रज्ञा को स्थिर कर लेता है अर्थात् स्थितप्रज्ञ हो जाता है उसे सांसारिक भोग आकर्षित नहीं करते हैं। उनके प्रति कामना न रहने के कारण वह राग-द्वेष से परे रहता है और उसका चित्त स्वाभाविक निर्मलता को प्राप्त कर लेता है। सभी कामनाएँ जिसके अन्दर ही विलीन हो जाती हैं और उसमें कोई विकार उत्पन्न नहीं करतीं, वह स्थित प्रज्ञा वाला साधक दुःखों से शान्ति पा जाता है। शान्ति का अभिप्राय है-सांसारिक द्वन्द्वों के बन्धनों से मुक्ति। इसके विपरीत जो कामकामी व्यक्ति सदा विषय-भोगों में आसक्त रहता है, उनका चिन्तन किया करता है और उसको प्राप्त करने की अभिलाषा करता रहता है वह अज्ञानी है। उसका चित्त सदा विकारों से युक्त रहता है और वह सांसारिक दुःख-ज्वालाओं से पीडित रहता है। वह कभी भी शान्ति अर्थात् सांसारिक द्वन्द्वों के बन्धन से मुक्ति नहीं पाता है। निष्काम हो

चुके आत्मज्ञानी में कामनाएँ किस प्रकार विलीन हो जाती हैं, इसको एक दृष्यन्त द्वारा समझाया गया है। समुद्र में सब ओर से आ आकर नदियाँ मिलती हैं और उसे अपने अपरिमित जल से भरती रहती हैं पर सारा जल समुद्र में समा जाता है। मर्यादा का अनुपालन करने वाले समुद्र में कोई भी वृद्धि या विकार नहीं होता है। नदियों का जल समाने पर भी उसकी स्वाभाविक निर्मलता बनी रहती है। ठीक इसी प्रकार स्थित-प्रज्ञ में भीतर ही भीतर सभी कामनाएँ विलीन हो जाती हैं और वह 'शान्ति' को प्राप्त करता है।

टिप्पणी–अचलप्रतिष्ठम्-अचला प्रतिष्ठा यस्य तम् अचलप्रतिष्ठम् (बहुव्रीहि)। **कामकामी**-कामान् कामयितुं शीलं यस्य सः कामकामी (उपपद् समास)। कामी-√कम् (चाहना)+णिङ्+णिनि। **शान्तिम्**-शान्ति का अर्थ है-सांसारिक बन्धनों से मुक्ति। पहले (श्लोक 66) इसका अर्थ 'अज्ञान की निवृत्ति' किया जा चुका है। यहां आचार्य शङ्कर ने स्पष्ट रूप से शान्ति से 'मोक्ष' का अर्थ लिया है।

शाङ्करभाष्य–विदुषः त्यक्तैषणस्य स्थितप्रज्ञस्य यतेः एव मोक्षप्राप्तिः न तु असन्न्यासिनः कामकामिन इति एतम् अर्थं दृष्टान्तेन प्रतिपादयिष्यन् आह–

आपूर्यमाणम् अद्भिः अचलप्रतिष्ठम् अचलतया प्रतिष्ठा अवस्थितिः यस्य तम् अचलप्रतिष्ठं समुद्रम् आपः सर्वतोगताः प्रविशन्ति स्वात्मस्थम् अविक्रियम् एव सन्तं यद्वत्, तद्वत् कामा विषयसन्निधौ अपि सर्वत इच्छाविशेषा यं पुरुषं समुद्रम् इव आपः अविकुर्वन्तः प्रविशन्ति सर्वे आत्मनि एव प्रलीयन्ते न स्वात्मवशं कुर्वन्ति। स शान्तिं मोक्षम् आप्नोति न इतरः कामकामी काम्यन्ते इति कामा विषयाः तान् कामयितुं शीलं यस्य स कामकामी न एव प्राप्नोति इत्यर्थः। (70)

Eng. Tran.—

He unto whom all desires enter as waters into the sea, which, though ever being filled, is ever motionless, attains to peace, and not he who hugs his desires. (70)

• • •

निष्काम कर्म करने वाला शान्ति पाता है।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।।७१।।

अन्वय और अर्थ–यः=जो, **पुमान्**=मनुष्य, **सर्वान्**=सम्पूर्ण, **कामान्**= कामनाओं

को, **विहाय**=छोड़कर, **निःस्पृहः**=अभिलाषारहित, **निर्ममः**= ममतारहित, **निरहङ्कारः**= (तथा) अहंकाररहित (होकर), **चरति**=व्यवहार करता है, **सः**=वह, **शान्तिम्**=शान्ति को, **अधिगच्छति**=प्राप्त करता है।

व्याख्या–स्थितप्रज्ञ के स्वरूप-विवेचन का उपसंहार करते हुए श्रीकृष्ण ने बताया कि वह तो समस्त कामनाओं को छोड़कर इस संसार में अपनी सब क्रियाओं को सम्पादित करता रहता है। वह साधक शरीर-यात्रा के लिए अपेक्षित सब कर्म करता है यद्यपि उसके हृदय में कोई इच्छा या कामना नहीं होती है। उसकी स्पृहा या तृष्णा समाप्त हो जाती है। वह मेरेपन की भावना से रहित होता है तथा अपने को कुछ समझने की भावना से भी रहित होता है। राग, ममता और अहंकार से रहित होने के कारण ऐसा मनुष्य सब दुःखों से रहित हो जाता है। निष्काम कर्मयोग के अभ्यास से उनका चित्त राग, ममता और अहंकार नामक चित्त-मलों से शुद्ध हो जाता है। उसके निर्मल चित्त में आत्मस्वरूप के ज्ञान का उदय होता है और फिर वह शान्तिरूप मुक्ति का अनुभव करने लगता है। निष्काम कर्मयोग का आचरण करने वाला साधक संसार के समस्त दुःखों से परे हो जाता है। इसे ही शान्ति कहा गया है, यही मोक्ष है। शङ्कराचार्य के अनुसार ब्रह्मज्ञान से ज्ञानी को मोक्ष मिलता है। ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति (मुण्डकोपनिषद् 3.3.9)–वह ब्रह्म को जानकर ब्रह्म ही हो जाता है। निष्काम कर्मयोगी को चित्त-शुद्धि के परिणामस्वरूप ज्ञानोदय से मोक्ष मिलता है। स्थितप्रज्ञता कर्मयोग की प्राप्ति का लक्षण है और मोक्ष स्थितप्रज्ञता का परिणाम। इस प्रकार चरम लक्ष्य की दृष्टि से कर्मयोग ज्ञानयोग के समकक्ष है।

टिप्पणी–**निःस्पृहः**–निर्गता स्पृहा यस्मात् सः निःस्पृहः (बहुव्रीहि)। **निरहङ्कारः**–निर्गतः अहङ्कारः यस्मात् सः निरहङ्कारः (बहुव्रीहि)। **निर्ममः**-निर्गतः 'मम इदम्' इति यस्मात् सः निर्ममः (बहुव्रीहि)। **विहाय**–वि+√हा (छोड़ना)+ल्यप्।

शाङ्करभाष्य–यस्मादेवम् तस्माद्–विहाय परित्यज्य कामान् यः संन्यासी पुमान् सर्वान् अशेषतः कात्स्न्येन चरति जीवनमात्रचेष्टाशेषः पर्यटति इति अर्थः। निःस्पृहः शरीरजीवनमात्रेऽपि निर्गता स्पृहा यस्य, स निःस्पृहः सन्। निर्मम इति ममत्ववर्जितः शरीरजीवनमात्राक्षिप्तपरिग्रहेऽपि मम इदम् इति अभिनिवेशवर्जितः। निरहङ्कारो विद्यावत्त्वादिनिमित्तात्मसम्भावनारहित इत्यर्थः। स एवम्भूतः स्थितप्रज्ञो ब्रह्मवित् शान्तिं सर्वसंसारदुःखोपरमलक्षणां निर्वाणाख्याम् अधिगच्छति प्राप्नोति ब्रह्मभूतो भवतीत्यर्थः। (71)

Eng. Tran.—

He who abandons all desires and acts free from longing, without any sense of mineness or egotism—he attains to peace. (71)

• • •

उपसंहार–कर्मयोग के अभ्यास से भी ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति होती है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।। ७२।।

अन्वय और अर्थ–पार्थ=हे पृथापुत्र!, **एषा**=यह, **ब्राह्मी**=ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी, **स्थितिः**=स्थिति है, **एनाम्**=इसको, **प्राप्य**=पाकर, **न विमुह्यति**=(मनुष्य) मोहित नहीं होता है। **अस्याम्**=इसमें, **स्थित्वा**=स्थित होकर, **अन्तकाले**=जीवन के अन्तिम समय में, **अपि**=भी, **ब्रह्मनिर्वाणम्**=(ब्रह्म में लय रूप) मोक्ष को, **ऋच्छति**=प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या–अपने कर्तव्य से विमुख हो रहे अर्जुन के शोक और मोह को दूर करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण ने पहले आत्मज्ञान का उपदेश दिया है। अनन्तर निष्काम कर्मयोग का प्रतिपादन किया, जिस पर चलकर भी साधक आत्मज्ञान की प्राप्ति के योग्य हो जाता है। यहाँ कर्मयोग के अभ्यास से प्राप्त होने वाली ज्ञाननिष्ठा की प्रशंसा की जा रही है। कर्मयोग के अभ्यास से चित्त-शुद्धि होती है। शुद्ध चित्त में आत्मतत्त्व की उपलब्धि होती है जिससे साधक सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है और ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त करता है। ब्रह्मस्वरूप को पाना ब्राह्मी स्थिति है। जो साधक एक बार इस स्थिति को पा लेता है वह फिर जगत् के प्रति विमूढ़ नहीं होता है। तात्पर्य है कि एक बार अज्ञान की निवृत्ति हो जाने के बाद अज्ञान से उपजने वाले शोक, मोह, जन्म, मरण आदि साधक को प्राप्त नहीं होते हैं। फलतः वह ब्रह्म को जानकर ब्रह्म हो जाता है। इस तथ्य का महत्त्व यहाँ तक है कि यदि कोई साधक अपने जीवन के अन्तकाल में आत्मज्ञान की निष्ठा को प्राप्त करता है तब भी वह ब्रह्मलीन हो जाता है। महत्त्व आत्मज्ञान का है जिसके होते ही ज्ञानी मुक्त हो जाता है। आत्मतत्त्व को सम्यक् रूप से जानकर ही यह आत्मज्ञान प्राप्त किया जाता है, अन्यथा निष्काम कर्मयोग से भी परम्परया इसकी प्राप्ति सम्भव है। आत्मज्ञान होते ही साधक के संचित कर्म ज्ञान से दग्ध हो जाते हैं। निष्काम होने से क्रियमाण कर्म वह करता ही नहीं और उसके प्रारब्ध

कर्म इस जीवन में किये जा रहे भोगों से समाप्त हो जाते हैं। शरीरग्रहण का कोई निमित्त न होने से उसके पुनर्जन्म का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। तभी कहा गया है कि यदि साधक एक बार ब्राह्मी स्थिति पा जाए तो जीवन के अन्त तक उसमें स्थित रहकर अन्ततः ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करता है। शङ्कर के अनुसार ब्रह्म में लीनता रूप मोक्ष ही ब्रह्मनिर्वाण है।

टिप्पणी–ब्राह्मी- ब्रह्मणः इयम् ब्राह्मी। **प्राप्य**-प्र+√आप् (पाना)+ल्यप्। **विमुह्यति**-वि+√मुह् (व्याकुल होना), लट्, प्र०पु० एक०। **ब्रह्मनिर्वाणम्**-ब्रह्मणि निर्वाणम् (सप्तमी तत्पुरुष)। निर्वाण-निर्+√वा (जाना)+क्त। निर्वाणोऽग्निः-जैसे प्रयोगों में अग्नि बुझने को लीन हुई अग्नि कहा जाता है। जब अविद्या नष्ट होने से आत्मा ब्रह्म में लीन होकर ब्रह्म बन जाता है तब उसे 'ब्रह्मनिर्वाण' कहते हैं। **स्थित्वा**-√स्था (ठहरना)+क्त्वा। **ऋच्छति**-√ऋच्छ् (जाना), लट्, प्र०पु० एक०।

शाङ्करभाष्य–सा एषा ज्ञाननिष्ठा स्तूयते–

एषा यथोक्ता ब्राह्मी ब्रह्मणि भवा इयं स्थितिः सर्वं कर्म सन्न्यस्य ब्रह्मरूपेण एव अवस्थानम् इति एतत्। हे पार्थ न एनां स्थितिं प्राप्य लब्ध्वा विमुह्यति न मोहं प्राप्नोति। स्थित्वा अस्यां स्थितौ ब्राह्मयां यथोक्तायाम् अन्तकाले अपि अन्ते वयसि अपि ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मनिर्वृतिं मोक्षं ऋच्छति गच्छति, किमु वक्तव्यं ब्रह्मचर्याद् एव सन्न्यस्य यावज्जीवं यो ब्रह्मणि एव अवतिष्ठते स ब्रह्मनिर्वाणम् ऋच्छति इति। (72)

Eng. Tran.—

This is the divine state (*Brāhmīsthiti*) O Pārtha (Ariuna), having attained thereto, one is not again bewildered; fixed in that state even at the end (at the hour of death) one can attain to the bliss of God (*Brahmanirvāṇa*). (72)

।। इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ।।

• • •

श्लोकानुक्रमणिका

1. अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम् ....। 24
2. अकीर्तिं चापि भूतानि ....। 34
3. अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं ....। 33
4. अथ चैनं नित्यजातम् ....। 26
5. अन्तवन्त इमे देहा: ....। 18
6. अवाच्यवादांश्च बहून् ....। 36
7. अविनाशि तु तद् विद्धि ....। 17
8. अव्यक्तादीनि भूतानि ....। 28
9. अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम् ....। 25
10. अशोच्यानन्वशोचस्त्वम् ....। 11
11. आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठम् ....। 70
12. आश्चर्यवत्पश्यति कश्चित् ....। 29
13. इन्द्रियाणां हि चरताम् ....। 67
14. एवमुक्त्वा हृषीकेशम् ....। 9
15. एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये ....। 39
16. एषा ब्राह्मी स्थिति: पार्थ ....। 72
17. कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये ....। 4
18. कर्मण्येवाधिकारस्ते ....। 47
19. कर्मजं बुद्धियुक्ता हि ....। 51
20. क्लैब्यं मा स्म गम: ....। 3
21. कामात्मान: स्वर्गपरा: ....। 43
22. कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव: ....। 7

23. कुतस्त्वा कश्मलमिदम् ....। 2
24. क्रोधाद् भवति सम्मोह: ....। 63
25. गुरूनहत्वा हि महानुभावान् ....। 5
26. जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु: ....। 27
27. तं तथा कृपयाविष्टम् ....। 1
28. तमुवाच हृषीकेश: प्रहसन् ....। 10
29. तस्माद्यस्य महाबाहो ....। 68
30. तानि सर्वाणि संयम्य ....। 61
31. त्रैगुण्यविषया वेदा: ....। 45
32. दु:खेष्वनुद्विग्नमना: ....। 56
33. दूरेण ह्यवरं कर्म ....। 49
34. देहिनोऽस्मिन्यथा देहे ....। 13
35. देही नित्यमवध्योऽयम् ....। 30
36. ध्यायतो विषयान्पुंस: ....। 62
37. न चैतद्विद्म: कतरन् ....। 6
38. न जायते म्रियते वा ....। 20
39. न त्वेवाहं जातु नासम् ....। 12
40. नहि प्रपश्यामि मम ....। 8
41. नासतो विद्यते भाव: ....। 16
42. नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य ....। 66
43. नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति ....। 40
44. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि ....। 23
45. प्रजहाति यदा कामान् ....। 55
46. प्रसादे सर्वदु:खानाम् ....। 65
47. बुद्धियुक्तो जहातीह ....। 50
48. भयाद्रणादुपरतम् ....। 35
49. भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम् तया ....। 44

50. मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय ....। 14
51. य एनं वेत्ति हन्तारम् ....। 19
52. य: सर्वत्रानभिस्नेह: ....। 57
53. यततो ह्यपि कौन्तेय ....। 60
54. यदा ते मोहकलिले ....। 52
55. यदा संहरते चायम् ....। 58
56. यदृच्छया चोपपन्नम् ....। 32
57. यं हि न व्यथयन्ति ....। 15
58. यामिमां पुष्पितां वाचम् ....। 42
59. या निशा सर्वभूतानाम् ....। 69
60. यावानर्थ उदपाने ....। 46
61. योगस्थ: कुरु कर्माणि ....। 48
62. रागद्वेषवियुक्तैस्तु ....। 64
63. वासांसि जीर्णानि यथा ....। 22
64. विषया विनिवर्तन्ते ....। 59
65. विहाय कामान्य: सर्वान् ....। 71
66. वेदाविनाशिनं नित्यम् ....। 21
67. व्यवसायात्मिका बुद्धि: ....। 41
68. श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा ....। 53
69. सुखदु:खे समे कृत्वा ....। 38
70. स्वधर्ममपि चावेक्ष्य ....। 31
71. स्थितप्रज्ञस्य का भाषा ....। 54
72. हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम् ....। 37

• • •

डॉ० शशि तिवारी की अन्य प्रकाशित कृतियाँ

- ऋग्वेदीय आप्रीसूक्त, (प्राक्कथन–प्रो.आर.वी.जोशी), दिल्ली, 1981.
- मुण्डकोपनिषद्, भूमिका और व्याख्या (प्राक्कथन–प्रो. सत्यव्रत शास्त्री), दिल्ली, 1981, 1992.
- ईशावास्योपनिषद्, भूमिका और व्याख्या, दिल्ली, 1986, 1997.
- सूर्यदेवता, वैदिक और वेदोत्तर सूर्यस्तुतियों में, (प्राक्कथन–डॉ. कर्ण सिंह), दिल्ली, 1994.
- संस्कृत लोकोक्ति कोश, (प्राक्कथन–डॉ. कर्ण सिंह), भारत सरकार, दिल्ली, 1996.
- उपनिषदों की बोधकथाएँ, (प्राक्कथन–डॉ. रामकरण शर्मा), दिल्ली, 1997.
- संस्कृतसूक्तिसमुच्चयः, उपनिषत्खण्डः, दिल्ली संस्कृत अकादमी, दिल्ली, 1998.
- ऋग्वैदिक अध्ययन, (प्राक्कथन–पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय), दिल्ली, 1999.
- संस्कृत साहित्य का इतिहास, (प्राक्कथन–प्रो. अवनीन्द्र कुमार), दिल्ली, 1999.
- होमेज टू द सन : (विश्व धर्मों पर आधारित), इंगलिश में, (प्राक्कथन–डॉ. कर्ण सिंह) रामायण विद्यापीठ, दिल्ली, 2001.
- वैदिक वाङ्मय : एक झलक (हिन्दी अनुवाद– डॉ. किरीट जोशी लिखित लिम्सज़ ऑफ वैदिक लिटरेचर), दिल्ली, 2002.
- वैदिक अध्ययन (वैदिक स्टडीज), (प्राक्कथन–डॉ. किरीट जोशी), दिल्ली, 2003.
- वैदिक ऋषि दीर्घतमा (सम्पादित), (प्राक्कथन–प्रो. वाचस्पति उपाध्याय), दिल्ली, 2005.
- केनोपनिषद्, भूमिका और व्याख्या, दिल्ली, 2005.
- ग्लिम्पसज़ ऑफ वैदिक एण्ड एन्शियन्ट इण्डियन सिविलाइजेशन, इंगलिश में, (प्राक्कथन-प्रो. जी.सी. त्रिपाठी), दिल्ली, 2005.
- संस्कृतपाठ्यसंकलन, दिल्ली, 2005.
- मुक्तक खण्डः, संस्कृतसूक्तिसमुच्चयः, दिल्ली संस्कृत अकादमी, दिल्ली, 2007-08
- राष्ट्रीयता और भारतीय साहित्य, दिल्ली, 2007
- कन्टम्प्रैरी वर्ल्ड ऑर्डर : वैदिक परस्पेक्टिव (सम्पादित), इंगलिश में, दिल्ली, 2009
- हड़प्पा सिविलाईजेशन एण्ड वैदिक कल्चर (सम्पादित) (प्राक्कथन-प्रो० आर०के० शर्मा) दिल्ली, 2010

अन्य छात्रोपयोगी ग्रन्थ

संस्कृतपाठ्यसंकलन	डॉ. शशि तिवारी
दूतवाक्यम्	डॉ. शशि तिवारी
केनोपनिषद् (भूमिका और व्याख्या)	डॉ. शशि तिवारी
राष्ट्रीयता एवं भारतीय साहित्य	डॉ. शशि तिवारी
मुण्डकोपनिषद्	डॉ. जियालाल कम्बोज
उत्कीर्णलेखस्तबकः	डॉ. जियालाल कम्बोज
सौन्दरनन्दमहाकाव्यम्	डॉ. जियालाल कम्बोज
संस्कृत निबन्धाञ्जलिः	डॉ. सावित्री गुप्ता
किरातार्जुनीयम् (प्रथम सर्ग)	डॉ. सावित्री गुप्ता
किरातार्जुनीयम् (1-2 सर्ग)	डॉ. सावित्री गुप्ता
छन्दोऽलङ्कारसौरभम्	डॉ. सावित्री गुप्ता
प्रतिमानाटकम्	डॉ. सावित्री गुप्ता
नीतिशतकम्	डॉ. सावित्री गुप्ता
मनुस्मृतिः (द्वितीय अध्याय)	डॉ. राकेश शास्त्री
मनुस्मृतिः (सप्तम अध्याय)	डॉ. राकेश शास्त्री
नाट्यशास्त्रम् (1,2,6 अध्याय)	प्रो. ब्रजमोहन चतुर्वेदी
ईशावास्योपनिषद्	डॉ. शर्मिष्ठा शर्मा
लघुसिद्धान्तकौमुदी	डॉ. रमण कुमार शर्मा
शुकनासोपदेशः	डॉ. अर्चना त्यागी
पञ्चतन्त्रम् (लब्धप्रणाशम्)	डॉ. कमलेश गर्ग
वैदिकसूक्तमञ्जरी	डॉ. कामिनी तनेजा
आधुनिक संस्कृत साहित्य संचयन	डॉ. गिरीशचन्द्र पंत
मन्दारमञ्जरी	डॉ. युद्धवीर सिंह

VIDYANIDHI PRAKASHAN
D-10/1061, (Near Shri Mahagauri Mandir)
Khajuri Khas, Delhi-110094
M. : 09868912570, 09868351990
email : vidyanidhiprakashan@hotmail.com